JOURNAL

OF THE

BANARAS HINDU UNIVERSITY

(GENERAL SECTION)

VOL. II No. 1

1952-53

JOURNAL

OF THE

BANARAS HINDU UNIVERSITY

(GENERAL SECTION)

VOL. II No. 1

1952-53

CONTENTS

हिन्दी विभाग

———

सन्देश

आज की समस्याएं इतनी जटिल हैं कि बिना चरित्रबल और ज्ञानबल के उनका समाधान नहीं हो सकता। आज समाज को ऐसे नेतृत्व की आवश्यकता है जो सद्विवेक और साहस से काम ले। अतः हमारे नवयुवकों को शिक्षा-काल में चरित्रगठन तथा ज्ञानोपार्जन की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। केवल पुस्तकी विद्या इसके लिये पर्याप्त नहीं है। राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय प्रश्नों का अध्ययन भी बहुत जरूरी है। हमारे विद्यार्थियों का ज्ञान प्रायः अत्यन्त सीमित होता है। इसलिये उनकी दृष्टि संकुचित होती है। किन्तु यह युग संकीर्णता और संकोच का नहीं है। इसलिये ज्ञान का विस्तार होना चाहिये और व्यापक ज्ञान के आधार पर धीरे धीरे हमारा लोकचित्त भी अंतरराष्ट्रीय हो जायगा। वर्तमान युग में अतिराष्ट्रीयता संसार के लिये अभिशाप है। अभी हम इस रोग से ग्रस्त नहीं हुए हैं। आज तो हमारा लोकमानस पूरे तौर से राष्ट्रीय भी नहीं है। राष्ट्रीयता और अंतरराष्ट्रीयता में कोई विरोध नहीं है। दोनों का सामंजस्य हो सकता है और होना चाहिये। इसीमें मानव-समाज का कल्याण है। आशा है हमारे विद्यार्थी अपने उत्तरदायित्व को समझेंगे और अपने शिक्षा-काल का अच्छे से अच्छा उपयोग करेंगे।

—नरेन्द्र देव

संपादकीय

वास्तविक परीक्षा भूमि

जिस समय यह अंक विद्यार्थियों के हाथ में पहुंचेगा उस समय तक ग्रीष्म कालीन अवकाश का काल प्रायः आगया रहेगा। हमारे विद्यार्थियों में से कुछ का शिक्षाकाल भी समाप्त हो गया रहेगा और वे उत्सुकतापूर्वक नये जीवन में प्रवेश करने का प्रयत्न कर रहे होंगे। दोनों ही प्रकार के विद्यार्थियों को विश्वविद्यालय के बाहर की दुनिया से संपर्क स्थापित करने का मौका मिलेगा। पहली श्रेणी के विद्यार्थी थोड़े समय के लिये बाहर जाएंगे, विश्वविद्यालय के बाहर के समाज के साथ अल्पकाल के लिये सम्बंध स्थापित करके फिर विश्वविद्यालय में लौट आएंगे और दूसरी श्रेणी के विद्यार्थी दीर्घकाल के लिये बाहर के समाज के साथ संपर्क स्थापित करेंगे और उसी समाज के स्थायी अंग बन जाएंगे। दोनों ही श्रेणी के विद्यार्थियों को थोड़ा विचार करने से ही, स्पष्ट हो जाएगा कि वास्तविक परीक्षा का हाल विश्वविद्यालय के भीतर नहीं, बाहर है। विश्वविद्यालय की परीक्षाएं ऊपर ऊपर से चाहे जितनी भी कठिन क्यों न दिखाई देती हों, वास्तविक जीवन की परीक्षाओं के सामने बहुत सरल हैं। वस्तुतः बाहर का सारा जगत् ही विशाल परीक्षाभूमि है। वहां के संघर्ष में किसी प्रकार की दया-ममता नहीं है। विश्वविद्यालय को जो माता कहा जाता है वह केवल औपचारिक भाषा के कारण ही नहीं। वह वस्तुतः ही माता के समान है। उसकी गोद से बाहर आजाने पर ही पता लगता है कि वास्तविक दुनिया की परीक्षाएं कितनी निर्मम और कठोर हैं। वस्तुतः विश्वविद्यालय में हम उसी विशाल परीक्षा की तैयारी करते हैं। वहाँ सच्चा और सहज ज्ञान ही सहायक होता है, विशुद्ध और अनाविल चरित्र ही आगे बढ़ाता है तथा प्रशस्त और उदार दृष्टि ही रास्ता दिखाती है। हम जो कुछ यहाँ सीखते हैं उसकी वास्तविक परीक्षा का समय बाहर जाने पर ही आता है। इस सत्य को विद्यार्थी जितनी आसानी से समझ लें उतना ही उत्तम हो। ग्रीष्मावकाश में इस परीक्षाभूमि में जाने का अवसर मिलता है। जिन विद्यार्थियों का अध्ययन अभी समाप्त नहीं हुआ है उन्हें अभी से स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि हमारी असली परीक्षाभूमि कहां है और जीवन को समाज की सेवा के उपयुक्त बनाना चाहिए। स्व० कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक बार नौजवान विद्यार्थियों को संबोधन करके कहा था कि जो पुस्तकें तुमने अभीतक अपने विद्यालय में पढ़ी हैं वे केवल समाजरूपी वास्तविक महाग्रंथ के पढ़ने की तैयार ही कराती हैं। वास्तविक महाग्रंथ है विद्यालय के बाहर फैला हुआ विशाल समाज। इस महाग्रंथ के पन्ने तुम्हारे सामने फैले हैं। जाओ इनका अर्थ समझो और उस अर्थ के योग्य बनो। पहले किसी जमाने के विद्यार्थी इस बृहत्तर और वास्तविक महाग्रंथ को भूलकर सफल हो भी जाते हों तो अब यह बात संभव नहीं है। अब पढ़ाई-लिखाई व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन के उद्देश्य से की जाएगी तो स्वयं भी व्यर्थ होगी और विद्यार्थी का जीवन भी बंध्य बना देगी। इस युग में सामाजिक उत्तरदायित्व की बुद्धि ही शिक्षा को सफल बनाती है और विद्यार्थी को चरितार्थ बनाती है।

सामाजिक उत्तरदायित्व के ज्ञान की आवश्यकता

इस साल हमारे विश्वविद्यालय में अनेक गण्य मान्य महापुरुषों का शुभागमन हुआ था। सब से प्रथम उल्लेख योग्य हैं हमारे राष्ट्रपति देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद जी। सेंट्रल हिंदू कालेज की स्वर्णजयन्ती का उद्घाटन आप ही के कर कमलों से हुआ। स्वर्णजयन्ती का उत्सव बहुत ही सफल रहा। राष्ट्रपति के सिवा देश के अनेक अन्य मनीषियों के पधारने से यह हमारे लिये विशेष महत्व का है। फिर हमारे प्रधान मंत्री पं०जवाहर लाल नेहरू के आगमन से भी हमने लाभ उठाया। देश के वयोवृद्ध महान तपस्वी नेता डा० भगवान दासजी ने इस वर्ष उपाधि वितरण का पौरोहित्य किया। इन महापुरुषों ने जो कुछ कहा उसका सार मर्म यही है कि हमारे विद्यार्थियों में सामाजिक उत्तरदायित्व का बोध आना चाहिए। जिस युग में हम वास कर रहे हैं उसमें इसके सिवा और गति नहीं है। हमारी पढ़ाई-लिखाई तभी सफल और चरितार्थ होगी जब हम उससे व्यक्तिगत लाभ हानि की बात न सोचकर सामाजिक कल्याण और सामूहिक उत्थान का प्रयत्न करें।

जिस युग में हम जी रहे हैं वह इतिहास के अन्यान्य युगों से बहुत बातों में भिन्न है। आज हम जो कुछ लिखते या बोलते हैं उसकी अच्छाई या बुराई व्यापक होकर प्रकट होती है। वैज्ञानिक साधनों ने इस युग को ऐसी अनेक विशेषताएं प्रदान की हैं जो पुराने युग में अपरिचित थीं। आज के युग में किसी बात के प्रचारित होने में देर नहीं लगती। नाना स्वार्थों का ऐसा अनवरत संघर्ष चल रहा है कि सब कामो में फुर्ती और क्षिप्रकारिता का जोर बढ़ गया है। दुर्भाग्य-वश गलत बातों ओर बेहूदा विचारधाराओं को फैलने का अवसर अधिक मिल जाता है और समाज को सही रास्ते पर लेजाने वाली विचारधारा को बहुत कम। यही कारण है कि संसार प्रेम और सद्भाव के मार्ग से न जाकर घृणा और प्रतिस्पर्द्धा के मार्ग से आगे बढ़ना चाहता है। ऐसी स्थिति में दृढ़ निश्चय के साथ सामाजिक कल्याण की बात के सोचने और प्रचार करने की आवश्यकता निरन्तर बढ़ती जा रही है। जो लोग काशी हिंदू विश्वविद्यालय जैसी संस्थाओं में शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं उनका उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता है। इस विश्वविद्यालय की स्थापना महामना मालवीय जी ने इसी उद्देश्य से की थी कि यहां के विद्यार्थी संसार को कल्याण के मार्ग की ओर बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे, प्रवाह-पतित स्वार्थियों के रास्ते न जाकर धर्म मार्ग को अपनाएंगे। इस वर्ष जो महाप्राण मनीषी इस विश्वविद्यालय में आए उन्होंने नाना भाव से इसी महासत्य को स्मरण कराया है।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् !

यह समझना भूल है कि जिन लोगों का प्रभाव क्षेत्र विशाल है केवल उन्हींको संयम और धैर्य से बोलना और लिखना चाहिए। प्रभाव सब का पड़ता है। दुनिया क्रमश: संकुचित होती जा रही है। इस क्रम-संकोचनशील जगत् में एक आदमी को गुमराह करने से भी भयंकर अनिष्ट होने की संभावना हो सकती है और एक आदमी को ठीक रास्ते पर लगा देने से भी संसार के असीम उपकार की आशा हो सकती है। इतिहास से दोनों प्रकार के उदाहरण

ढूंढ़ लिए जा सकते हैं। यह समझना कि हमारा प्रभाव क्षेत्र छोटा है और इसी लिये हमारा सामाजिक उत्तरदायित्व भी कम है या छोटा है गलत समझना है। छोटा हो या बड़ा समाज के प्रति सब का उत्तरदायित्व एक समान है। प्रत्येक विद्यार्थी को चाहे उसका प्रभाव क्षेत्र कितना छोटा भी क्यों न हो, वर्तमान समस्याओं को ठीक ठीक समझना चाहिए और शान्तचित्त से सोचना चाहिए कि इस विशाल देश में बसनेवाले कोटि कोटि मनुष्यों को वास्तविक मनुष्यता के लक्ष्य तक ले जाने में कौन कौन सी बातें सहायक हैं और कौन कौन सी बाधक। उसे सहायक बातों के प्रति सहानभूति उत्पन्न करना चाहिए और बाधक तत्वों को रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। शुभबुद्धि से किया हुआ प्रयत्न व्यर्थ नही जाता। महान् उद्देश्य से किए गए सत्प्रयत्न थोड़ी भी मात्रा में सफल हों तो महान् कल्याण के जनक होते हैं और संसार को महानाश से बचा ले सकते हैं। छोटा भी होने पर दीपक अंधकार के दुर्ग पर आक्रमण कर ही देता है। संकल्प पवित्र हों; बुद्धि निर्मल हो और हृदय उदार हो तो प्रयत्न अवश्य मंगल-जनक होता है।

———

THIRTY-FIFTH CONVOCATION ADDRESS

(21. 12. 1952)

Banaras Hindu University

DR. BHAGAVAN DAS

Mr. Vice-Chancellor, learned members of the staff, kind visitors, and especially, dear students, all those who are leaving and even more particularly those who are staying on—

The call to address a Convocation of this University has come to me rather late. It has come to me from my dear friend, your Kulapati. I hope you realise that this ancient word is much more significant, benevolent, and lovable than the new word Vice-Chancellor. It means 'the Head, the Guardian, of a great Family', and, by itself, tells you and the world at large, what the ancient ideal was, as to the relation which should exist between teacher and taught.

I could not ignore the call. That it has come late has its disadvantages—those of a mind tired by old age. But it has also perhaps the advantage that I have witnessed enormous changes in the conditions of individual as well as social life in India during my 84 years ; conditions domestic, educational, economic, political, recreational, legal, and religious. I may, therefore, be able perhaps to make some useful suggestions to you regarding the conduct of your life amidst these new conditions.

I am speaking to you in English for a special reason. A cry has been raised in several quarters that we should give up the use of English. Hindi is our National Language, Rashtrabhasha, as declared in India's new Constitution. We should, therefore, surely endeavour to encourage the use of it all over India gradually, though without attempting in the least to force it on unwilling tongues. But we have to regard English as important for us in the immediate next degree, and indispensable even more. Our political, diplomatic and ambassadorial, economic and commercial, educational and scientific and cultural relations with other countries, our exchanges of Good-will Missions and Professors and Students, our exports and imports—all these depend entirely on English as our only means of

communication and correspondence with other countries. You know that India is a member of U.N.O. and U.N.E.S.C.O. and the Commonwealth of Nations. An Indian has recently been appointed to the International Hague Tribunal. The Vice-President of India was elected Chairman of U.N.E.S.C.O. a few weeks ago. Our Professors must be familiar with one of the three world languages of today, viz., English, French, and Spanish, in order to keep abreast of Western progress in all departments of Science. And history decides that English is easiest for us. Yet more: Hindi, though our national language *de jure*, is very far yet from being such *de facto*. The medium of communication, between our 29 State Governments, with each other and with the Central Government, will have to be English for many years yet. Also, quite obviously, we cannot dispense with some dailies, weeklies, monthlies and scientific journals in English, in every State, side by side with some in the State's mother-tongue, for a very long time yet.

Our Universities have therefore to send out alumni, adequately equipped with knowledge of English, who will supply the personnel needed to maintain and to carry on these manifold relations and activities efficiently.

Study of English must therefore continue to be part of our general cultural education.

2. Vocational Education.

But side by side with such, must be given vocational technical education, which is perhaps even more necessary. It has been amply recognised by the best Western thinkers that 'Science and Art are not for their own sake, but for the sake of Life,' i.e., for promoting General Welfare and refining and enriching civilised life. Indian tradition has always declared that the four classes into which all *Shāsṭras*, sciences, may be divided, subserve the four Ends of Life, Ḍharma, Arṭha, Kāma and Moksha. That Science, Art, Law, are grossly misused, is due to the element of Evil in human nature which has to be diligently guarded against always by us all.

You have been studying one or more of the 125 subjects taught here, only in order to prepare yourself to take up some bread-winning occupation in keeping with your studies. Your life here has been comparatively carefree, and even joyous, amidst pleasant surroundings. Your parents have maintained you here, perhaps in some cases at the cost of much distress to themselves, going short of even necessaries at times.

3. Honor the Parents.

Be grateful to them, especially to the mother. The face of your mother, borne constantly in memory, will act as a guardian angel and preserve you from all those sins to which youth is so liable. For it will prevent you from doing anything which you would not like to be known by her. Our first law-giver Manu has given the highest place of honour to the mother, and next after her to the father and the teacher:

उपाध्यायान् दशऽऽचार्यः, शतऽऽचार्यांस् तथा पिता,
सहस्रं तु पितृन् माता, गौरवेणऽतिरिच्यते ।

'The father exceedeth the teacher a hundred times in the title to reverence; but the mother exceedeth the father a thousand times in that as well as in the quality of educator'. Many men, whom the world regards as great, have declared that whatever good or great work they may have done, was due to the inspiration and guidance received from their mothers.

Jehovah gave ten commandments to Israel through Moses; one of them is "Honor thy father and thy mother". Christ repeated them. Allah, through Muhammad, commanded Arabs, "Bil wāliḍaini ehsāna. Al jannaṭo ṭahaṭa qaḍamil umm"; 'Serve and revere your parents; heaven spreads out beneath the feet of mothers everywhere'. If you are grateful to your parents, your children will be so to you. If you honor your mother, you will honor all women. The greatest Teachers and Lovers of Mankind have not only given these commandments to all human beings, old as well as young, but have put them in the forefront of their injunctions. Therfore, I venture to repeat them to you, as they are apt to be forgotten in modern conditions. The wisest and most helpful truths of Ethics are the simplest and last unchanged, age after age; while complex laws, based on expediencies of the moment, change decade after decade, or even month after month.

4. Definition of Culture.

Some one has defined culture as 'knowing something of everything and everything of something.' Shorn of exaggeration, this is one-third of the whole truth. Sound knowledge, especially of that kind which is to subserve your future profession, is necessary; but equally necessary is right desire, right will, which makes good and strong character, and lack of which ruins individuals, families, whole nations; and, finally, even more necessary is the carrying out of these into righteous action without which

the other two are barren. Knowledge, desire, action, these make up the whole life of men and nations. If they are good, nations prosper. If they are evil, they die. Wide-spread corruption and general rottenness—such as we are most unfortunately faced with in India today, and more or less in the whole world—have invariably preceded the downfall and death of nations and civilisations, throughout history.

5. Preparation for Life. Brahma-charya.

Your carefree time will cease when you leave your *Alma Mater*, and your anxieties will begin. Prepare, while you are here, to meet those difficulties. The days of studentship are the days in which to build up good and healthy mind and body. The ancient name for this first period ordained by Nature herself, is *Brahma-charya*. Very full of valuable meaning is that word. If you carry into practice all that it implies, you will guarantee for yourselves, a hundred years of life with health and strength of body and mind and ability to meet all difficulties successfully. Véḍa says शतायुर्वै पुरुषः; and the Vedic Rishi prays or rather wills, जीवेम शरदः शतं, नंदेम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात्, 'We *will* live, and live joyously, for a hundred years and even more'.

6. Honor the Teacher. Meaning of Guru-Kula.

While *in statu pupillari*, you should honor the teacher even more than parents. For he gives you good and true knowledge, without which life is not worth living, is only an animal's life. If you honor your teacher, he will inevitably love you and give you all the best that is in him; otherwise, he will not be able to put his heart into his teaching. Véḍa enjoins :—

यः आवृणोति अवितथेन ब्रह्मणा शिष्यस्य श्रोत्रं, अमृतं संप्रयच्छन्,
तं जानीयात् पितरं मातरं च, तं न द्रुह्येत् कतमच्चनास ।

'He who imparts to you the knowledge which will enable you to achieve, by-and-bye, the supreme End of life, the realisation of the Immortality of your Soul, regard him even as your father and your mother; slight him not'. And it forbids the teacher to give knowledge to the unworthy, hostile, and flippant student :—

विद्या ह वै ब्राह्मणं आजगाम, गोपाय मां, शेवधिस्तेऽहमस्मि;
असूयकाय,ऽनृजवे,ऽयताय, मां मा दाः; वीर्यवती तथा स्याम् ।

By mutual affection, teacher and taught both improve and refine each other. The ancient name for University is *Guru-Kula*, the Family of

the Teacher. It indicates the feeling which should pervade the atmosphere of an educational institution. So too, the modern name *Alma Mater*. 'Benign Mother'.

7. Learn here Team-Work, Co-Operation, Self-Control.

Cultivate good habits of mind and body here, during you student days. They will last you throughout life. Make good friends here. Friendships made in school and college last through life, because they are disinterested. Learn diligently to control your passions and resist temptations. Ride your temper; as a good horseman rides his horse; do not let it ride you and run away with you. The play-ground is the place where to practise such control. There you should learn teamwork, co-operation, and how to take defeat cheerfully and shake hands smilingly with your opponent. One reads in the dailies now and then, of matches being broken up because players fell out and attacked each other with hockey sticks or cricket stumps, or fists and kicks. Learn from the English player how to behave on the play-ground. Learn there to hold firmly in check the time-old inner enemies of man, kāma, kroḍha, lobha, moha, maḍa, maṭsara, lust, hate, greed, fear, pride, and jealousy. The unchecked growth of these was the direct cause of the two world wars; and the nations have not learnt the lesson of them yet, and are, therefore, heading towards a third and far worse. If you feel the surge of any one of these, shut your eyes and think of the consequences of yielding; very soon you will have conquered. And with each such victory you will be the stronger to resist the next attack.

8. Study the problems that are harassing the World.

Study the problems that are harassing our country today, and even the whole world. Think out solutions with the help of your teachers and by *cool-headed* discussions—not debates, *de* down and *bateo*, to beat, but quiet discussions—among yourselves, in your College Parliament. Remember the significance of the word *cool-headed*; also that every question admits of two and opposite answers, and that your opponent may be quite as sincere in his belief as you are in yours. Our present rulers, chosen by ourselves, are trying to solve these problems with the best intentions. They are making mistakes. We all do. It is to be hoped that they will learn to correct those mistakes, as Lenin did in Russia, over and over again. Our Professors should be able to help in the solution of our problems, because of their dispassionate and

disinterested special studies. Very few of our legislators are able to do so, because of party-passions and private as well as class-interests.

Knowledge of history is particularly useful for administrative and legislative work.

इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।

Similar situations have occurred in the past—for history repeats itself, in broad outlines, never in details. What measures were adopted by the then rulers ? Which succeeded, which failed ? This knowledge would obviously be helpful. Mahābhāraṭa, (Rāja-ḍharma Parva, Ch. 85), enjoins that the king's Council should consist of 4 brāhmaṇa *vaiḍyas*, 18 *kshaṭṭriyas*, 21 *vaishyas*, 3 *shūḍras*, and one person specially versed in history. First mentioned are four *vaiḍyas*, versed in the physiology and psychology of human beings, without sound knowledge of which, sound legislation is impossible. Equally important is the last mentioned, 'the *sūṭa*, deeply versed in Iṭihāsa-Purāṇa, and not less than 50 years of age, mature and sober of judgment, benevolent, able to speak effectively'.

ब्राह्मणांश्चतुरो वैद्यान्, दशऽष्टौ क्षत्रियानपि,
एकविंशति वैश्यांश्च, त्रींश्च शूद्रान् शुचींस्तथा,
अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं सूतं पौराणिकं तथा,
पंञ्चाशद्वर्षवयसं, प्रगल्भं, अनसूयकं ।

Representation was vocational, not territorial as today; hence comparatively few select and elect, good and wise, legislators were needed ; and not, as now, many hundreds, who can only create confusion and add greatly to the waste of public funds, and help to make bad laws.

9. The Most Pressing Problems.

The first and most pressing problem is that of Bread, today, as always ; Christ prayed "Give us this day, O Lord !, our daily bread". He meant Bread Material as well as Bread Spiritual ; for he also said "Man does not live by bread alone", i.e. Material Bread. *Véḍa* also prays ;

अन्नपते !, अन्नस्य नो धेहि, अनमीवस्य, शुष्मिणः,
प्र प्रदातारं तारिष; ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे !

'Lord of Food ! Give us Food, wholesome and strengthening. Bless him who brings it unto us and to our four-footed friends'. One of the holy names of Allah, in Quran, is Ar-Razzaq, 'Giver of Bread'. Mahābhāraṭa says :

मनुष्याणां समारंभाः सर्वे आहारसिद्धये ।

'All human activities are ultimately motivated by hunger'. To hunger, meant by Loka-éshaṇā, *Upanishaḍs* add Viṭṭa-éshaṇā and Dāra-suṭa-éshaṇā, i.e., acquisitiveness or desire for possessions, and sex or desire for spouse. *Upanishaḍs* further say that these two are also only other forms of Lokaishaṇā; they are hunger for property and hunger for spouse and power; because only when craving for food has been satisfied, the others arise and are possible to satisfy. The frequency of harṭāls, strikes, in all departments of the public services, and in mills and factories, is evidence of the urgency of the Bread Problem. They are all always for higher wages, i.e., more Bread, in the large sense. All professions are greatly over-crowded. Struggle for existence is becoming ever more bitter. Serious crimes, of new sorts, by educated young men, are also mostly due to lack of suitable employment.

Very closely connected with the Bread Problem is the Population Problem. Family Planning is now seriously occupying the attention of our Central and States Governments, and an International Conference on the subject was recently held at Bombay, on 24th November and subsequent days, to discuss it, at which over 400 delegates from 14 countries attended. The Vice-President of India inaugurated it, and strongly advocated Planned Parenthood. The Prime Minister of India sent a message saying that he was convinced that it was desirable to limit the growth of population and that "our social and economic problems cannot be solved until the population problem is tackled". You should seriously consider the subject also, together with your teachers. It is a very difficult problem, but not at all hopeless of solution.

10. A New Social Order Needed. Two Great Movements.

There is a feeling everywhere that a New Social Order is needed to solve these and many other subsidiary problems which are harassing all mankind today. But what that New Order should be, is very far from being agreed upon yet.

Two great movements of thought and corresponding action are observable throughout the world. Psycho-analysis or New Psychology deals with Sex-impulse, Socialism and Communism with Hunger and Property. They have invaded India also, unavoidably, in modern conditions of press, wire, and wireless. Now, economic or any other Equality, sameness, which some people want, is the sheerest myth and illusion. Even obviously there is none such anywhere. The Mystery

which has made and is carrying on this universe has not succeeded in making all equal; how can any man hope to do so?

Mr. Wendell Wilkie, who toured without restriction in Russia in 1943, in his very informing book, *One World*, published in that same year, says that an engineer of a governmental aeroplane factory (there are no private factories there) told him that his salary was about ten times that of an average skilled worker. Mr. Wilkie asked, "I thought Communism meant equality of reward?" The reply was, "Equality is no part in the present conception of Socialism. 'From each according to his capacities, to each according to his *work*', is the slogan of Stalinist Socialism. Only when we have achieved the Communist phase of development will the slogan be changed to 'From each according to his capacities, to each according to his *needs*'. And even then complete equality would not be necessary or desirable". This was what the engineer said. Trustworthy books and reports published in dailies by Americans and Europeans who have travelled widely in Russia, and by Russians who have escaped from Russia, also reports by honored Indians who have visited some of the most important towns of Russia—all say that there is *no* equality of possessions there, that circumstances have compelled the Soviet to allow a limited amount of immovable and other private property, and an unlimited amount of inheritable private monetary wealth, but all investible only in Government securities.

Ideal Communism is to be found only in good joint families where the able-bodied do all the hard work and the babies, the sick, the weak, are given all they need, first; because in such families, as a poet has well said, "Joy is Duty and Love is Law". Such joint families break up as soon as selfish shirkers appear in them who will take all they desire but do no hard work. If you want real equality or sameness, you have it in *pralaya*-slumber. In deep sleep, ant and elephant, tiger and deer, beggar and emperor, all are perfectly equal. But as soon as they wake up, each is different from every other. As the Sānkhya aphorism puts it, "Sāmyam Pralayah, Vaishamyam Srishtih", 'Chaos is Sameness, Cosmos is Diversity'.

11. Equitability possible, not Equality. Problem of Incentive.

Briefly, Equality, No; Equitability, Yes. Extreme differences of wealth and poverty must be reduced. As a fact they are being reduced, indeed too much, by devastating Income taxes and Death duties and dozens of other taxes of many kinds and sudden deprivations of property of India

and also in Britain. But indiscriminate nationalisation of industries is very harmful. Dailies report that the present Government of Britain has begun denationalisation of some key industries which had been nationalized by the preceding Labour Government. Our Indian government also has begun gradual derationing and decontrol. Private enterprise should be not only permitted but encouraged. Only it should be duly regulated and profiteering prevented.

Official Kshaṭṭriya intelligence cannot do what private Vaishya enterprise can. The two types of mind differ. Neither can do the work of the other efficiently.

In this connection you should study carefully, with the help of your Professors, the psychological problem of the right incentive to good work. 'No gains, no pains', is the indefeasible Law of Human Nature. Why should the hard worker give his best according to his ability if he would get no more than the lazy shirker ? And why should the shirker work, if he, without it, could get all that the worker got ?

The same Human Nature has ordained that there are four main time-old incentives to good work, viz., Honour, Power, Wealth, and Recreation ; also that these correspond broadly to the four Varṇas. Soviet Russia has adopted these incentives, and whatever success it has achieved in any departments of the National Life—and it has undoubtedly achieved much success in some—has been due to such adoption.

12. How Varṇa-Āshrama Ḍharma solves these Problems.

Let us see, now, how these problems were solved by the traditional principles of our ancient Social Organisation.

We want a Society, a Samāja, organised into a State, a Rāshtra, served by a good Government, Shāsaka-Mandala. It is now generally recognised that a Government has two duties or functions, (1) Constituent, i.e., maintaining law and order, peace within its territory and defence against aggression from outside, i.e., Protection, in one word, and (2) Ministrant, or Promotion of General Welfare. General Welfare means Education, Nourishment, and Help in every way needed. The two functions may be put into four simple words—Teach, Guard, Feed, Serve. These are the duties of every head of a family towards its younger members, and also of a Government towards Society as a whole, which is and ought to be

only a great Family, Prajā, Progeny. Teaching has to be carried out through the Learned Professions, Intellectual workers, old name for which is Brāhmaṇas, but which should be replaced, now, by Shikshakas or Aḍhyāpakas, since it no longer means what it should; Protection, through the Executive Professions, Magistracy, Police, Military, i.e., Kshaṭṭriyas or, better, Rakshakas; Nourishing, in the broad sense, by means of the Commercial Professions, i.e. Vaishyas or Poshakas; and general Help and Service through the Industrial Professions, Manual workers, or Shūḍras, better, Sahāyakas or Ḍhārakas or Shramikas. These are the Four great Types, demarcated by congenital temperament and aptitude, into which Nature has divided Mankind. Soviet Russia, Communist China, has them today. The very many misfits, failures in life, frustrations, often causing suicides and insanities, are due to the fact that persons are thrust by circumstances, created by unwise governments and mismanaged and wrong education, or lack of suitable education, into occupations which are not suited to their temperament and natural capacities. In the west, they have realised this fact, and have begun appointing in schools and colleges, career-masters, versed in psychology, who find out, in various ways, the natural inclinations and capacities of each student, and advise him or her to study suitable subjects, which will enable them to secure a suitable profession readily. In olden days, this work was done in India by the Āchāryas, teachers of the Gurukula, who gave individual attention to each student, and were, all of them, versed in psychology, Aḍhyāṭma-viḍyā, without which a brāhmaṇa is not a brāhmaṇa—and the varṇa of each alumnus was decided by the Kula-paṭi, with the advice of the teachers, at the Samāvarṭana-ceremony, corresponding to our Convocation.

आचार्यस्तु अस्य यां जातिं, विधिवद् वेदपारगः,
उत्पादयति, सावित्र्या, सा सत्या, साऽजराऽमरा ।

He declared that this student was fit for brāhmaṇa-work, this other for kshaṭṭriya-work, this for vaishya-work. This was his true jāṭi i.e. varṇa; not the nominal jāṭi by birth. Modern Russia and Japan can teach our educational authorities a great deal, as to how to teach and train young men and women in keeping with their congenital aptitudes, and provide them with suitable employment readily, in one or another of the hundreds of professions into which the four main kinds of professions are sub-divided. This is the bright side of their shields.

You and your teachers also, should bear in mind that by etymology 'Achārya' means 'One who teaches more by his own good example than

by good precept. He should act the example of self-denial (within limits) and missionary spirit and public service.

आचिनोति च शास्त्रार्थान् धर्म्यान् आचारयत्यपि
शिष्यान्, स्वयं चऽाचरति, तस्माद् आचार्य उच्यते ।

Even the naming of the four great classes of professions shows at once what the sound Organisation of Society implies. We want and must have genuine Brāhmaṇas by worth, but not Brāhmaṇa-rājya, not sacerdotalism, no popery, no theocracy, no poṭhî-shāhī. We want Kshaṭṭriyas, but no Kshaṭṭriya-rājya, in the sense of absolute monarchy or dictatorship even more absolute, no militarism and imperialism, no lāṭhī-shāhī, no bureaucracy. An Executive Head of the State and the Government is indispensable. You may call him King or Emperor or President of a Republic or Governor, or Prime Minister or Chief Minister if the President or Governor is not allowed any real power by the Constitution. But he must be advised and guided, and, if necessary, governed and compelled, or even changed, by competent good and wise ministers and legislators, carefully selected and elected by duly instructed electors. So, too, we must have Vaishyas, but no Vaishya-rājya, no unrestrained capitalism, no plutocracy, no ṭhailī-shāhī. Finally, we must have Shūḍras, manual workers, well cared for, provided with all necessaries, and also comforts as far as possible; but we must have no Shūḍra-rājya, no proletarianism, no mobocracy, no hullad-shāhī, which is the very worst of all cracies and isms. All these four classes, representing Shāsṭra-bala, Shasṭra-bala, Ḍhana-Ḍhānya-bala, Shrama-bala, should be closely knit together, interdependent, like head, arms, trunk, legs, all equally indispensable, yet none should be allowed to encroach upon the rights and duties of any other. As the great Véḍic metaphor says:

ब्राह्मणोऽस्य मुखं आसीत्, बाहू राजन्यः कृतः,
ऊरू तद् अस्य यद् वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ।

To see to this was the main duty of the Kshaṭṭriya-rājā, his chief Ḍharma.

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषां, अनुपूर्वशः,
वर्णानां आश्रमाणां च, राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ।

13. Meaning of Ḍharma.

Ḍharma means that which ḍharaṭi, holds together, binds together rights-and-duties, and binds all human beings together into a rational society by the bonds of mutual rights-and-duties. The words Religion

and Law have the same implication by etymology. Law and Religion are only aspects of the same thing and both are meant by Ḍharma.

धारणाद् धर्म इत्याहुः, धर्मो धारयति प्रजाः ।

If we give up only one 'ism', viz., extremism, we can reconcile all other isms whatsoever by means of Varṇāshramism. Do not run after catch-words and slogans. Think carefully. Remember that Saṭya, Truth, Truthfulness, is the very foundation of society. All ḍharma, all other virtues, arise out of it, are but other forms out of it. Even so Asaṭya, Falsehood, is the source of all other vices and the cause of disruption of society. Truthfulness, in thought, word, and deed, breeds trust all around, whence affection and co-operation, and thence prosperity of all kinds. *Per contra*, the liar, the dishonest person, creates the opposite of all this, whence breaking-up of families, disintegration of society, and even death of whole nations.

सत्यात् नऽस्ति परो धर्मः, सत्यं हि परमा गतिः;
सत्यं यज्ञः, तपो, दानं, सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं ।

Truth and Truthfulness are the very seed and root of Religion, and Religion has inspired the noblest and grandest works of all kinds of Fine Art, Epic Poetry, Architecture, Sculpture, Painting, Music, in all dead as well as living Civilisations, and Civilisations have died when their Religion decayed and failed to hold them together in bonds of Truthful Righteousness and Duteousness.

14. Set Good Example.

It is for you to set the example of truthfulness in thought, word, and deed, which is the essence of gentlemanliness, to all around you, and thereby help in the uplift of our country, which yet needs much uplifting, even after having found Swaraj. Also set the example of Chastity. Sex-life, especially in our crowded towns, as of those of all countries, has become deplorably corrupt, whence all sorts of shameful doings and atrocious crimes. You all read newspapers and cannot but be aware of this. Widespread sex-looseness, adultery, and alcoholism, whence all sorts of rottenness, have always ended in the destruction of nations. Engrave on your minds and hearts therefore, that, as purity in diet ensures individual health, so purity in marriage ensures racial health. Sex is the source of the life of future generations. Therefore think of it, not flippantly, not cynically, but very seriously, even reverently. Our great Law-giver ordains,

अनिंदितैः सद्विवाहैः अनिंद्या भवति प्रजा,
निंदितैः निंदिता नृणां; तस्मात् निंद्यान् विवर्जयेत् ।

"The progeny of blameless virtuous marriages is virtuous and noble. The progeny of vicious sinful mismatings are sinners and criminals. Therefore avoid such vicious mismatings".

And set the example of Helpfulness.

Dailies have been reporting latterly that, in such and such a village, the village-folk, with the help of their school-boys and school-masters, made a long irrigation trench, or several miles of road, or constructed a dam, in a small stream, to help irrigation, or erected a school-house, by free volunteer labour, without any help from district authorities or others, except needed implements of work, and bricks and tiles. This *shramadāna* is the right spirit of self-help and deserves all possible encouragement and imitation. In this University also, you can do something to reduce illiteracy by teaching such boys as are unable to attend school, in your holidays.

But remember that mere literacy is not education. An old very significant verse says,

सऽक्षरो विपरीतत्वे राक्षसो भवति ध्रुवं ।

'Sākshara, literate, being inverted, become rākshasa, devil'. An old Latin proverb means the same, Demon est Deus inversus, 'Satan is God inverted'. Lies imitate truths. Therefore, while teaching others to read and write, teach them also to read that which will make them good citizens, not rowdy bullies.

16. Discipline and Co-operation Indispensable.

Discipline, co-operation, steady hard work, are the secret of success. By setting example of these, you will wipe out the bad name of rowdiness that has latterly become attached to the students of these provinces. Stand together, by all means, for good causes, and to protect the weak, especially women, from lawless aggressors; but do not band together to become lawless aggressors yourselves. Thus when you pass from the student stage of Brahmacharya into that of bread-winning householder, you will be righteous and duteous Gṛhasṭha and supply to all classes of professions, and to the salaried public services, honest, upright, trustworthy, men and women, of whom there is a sad lack today. Gṛhasṭha-āshrama is the highest of the four āsharamas; not Sannyāsa.

यथा वायुं समाश्रित्य, वंर्तते सर्व-जन्तवः,
तथा गृहस्थं आश्रित्य, वंर्तते सर्व आश्रमाः ।
सर्वेषां आश्रमाणां तु वेद-श्रुति-विधानतः,
गृहस्थः उच्यते श्रेष्ठः, स त्रीन् अन्यान् बिभर्ति हि । (*manu.*)

'As all living beings depend upon the air for their life, even so do all āshramas depend upon the Gṛhasṭha for their existence. The good householder is the parent of all āshramas ; he gives to them all, sustenance as well as knowledge'. Again, when you become old and pass into the third stage of life, Vānaprastha, and hand over the cares of the household, its duties and its rights, to your younger generation, you will be able to do public service without remuneration. You will be able to supply to the country what it needs very greatly, philanthropic, good, and wise legislators and members of municipal and district boards possessed of ripe experience ; and then you will be able to really help the country to wipe out the baḍ-nāmî that has fallen upon our legislators, and members of elective bodies generally. The ancient rule is 'He who wishes well to all, who knows what is conducive to the good of each, is ever trying to help, with thought, word, and deed, not only some one particular class or section, but, all classes and sections of the people, in just proportion, he alone deserves to be entrusted with the work of making laws'.

सर्वेषां यः सुहृन् नित्यं, सर्वेषां च हिते रतः,
कर्मणा, मनसा, वाचा, स धर्मान् वक्तुं अर्हति । (*mbh.*)

A number of U. P. Municipal Boards have been superseded, and their work is being carried on by Administrators appointed by Government. Among these is that of Lucknow, the capital of U. P. and seat of its Government. All because of intrigues, quarrels among themselves, selfishness, embezzlements, dishonesties of many sorts. For practical purposes, perhaps the greatest need of our country is that our people should learn to pull together, for the attainment of common ends, instead of pulling against each other for petty private separate ends. As individuals we may not be inferior to individuals of other countries. But a group of Indians is far less efficient than a group of Europeans. We see all round, in our Governmental Departments, University Councils, Municipal and District Boards, Congress Committees, Sévā Samiṭis, and even Literary associations, that every such body is torn by cliques, intrigues, and dissensions of all sorts. Instead of helping and raising one another, we hinder and pull down. Our Universities should not only produce the right quality of men as individuals, but also give them the training which will enable them to work together for the

common good of the Motherland. Democracy can work successfully only if we sink our individual differences, and abide loyally by the decisions of the majority. Our Ministers have set great schemes afoot, perhaps too great and too many all at once, for the material betterment of our People ; but the successful working of them depends entirely upon the character, i.e., the spiritual quality, of those who have to carry them out. You must bear that in mind always.

Finally when you become too old for even unremunerated public service, and pass into the fourth quarter of life, from 75 to 100, as you undoubtedly will, if you live good clean lives, you will become genuine Sannyāsis, benevolent to all, like grand-fathers to children, radiating peace and good will all around ; तत्सन्निधौ वैरत्यागः, Yoga Sūṭra ; not false ones, hoarders of wealth and living impure lives. It was in the papers, a few weeks back, that some Shankarāchārya, chief of sannyāsîs, had lost a box containing about Rs. 75,000/- worth of jewellery and cash, which box was recovered also by his luck, (not good luck from the higher point of view). Sannyāsî means 'one who has given up all possessions.' What has he to do with jewels and cash ? Therefore, you will become genuine Sannyāsîs, give spiritual advice to those who may come to you to ask for it in their distress, and be as embodiments of God's blessing to all. Such was the ancient Varṇā-shrama Order ; and the New Social Order that the world needs is that same, revived and purified and modified as necessary to suit modern conditions. I am giving you the advice which I have given to my grandsons, all of whom have studied here. It may be mistaken here and there. Correct it with the help of your elders and teachers, and your own careful thinking. I believe they will tell you that it is good on the whole. And, whatever else you may do or not do, cultivate the habit of reverently praying to that Mysterious Power which has created you and your surroundings, that Universal Mind of which your mind is an infinitesimal part, pray that It may help you and your fellowmen and fellowwomen to find and walk upon the Right Path always. The ancient Guru taught sanḍhy-opāsana to his little pupil, before anything else.

उपनीय गुरुः शिष्यं, शिक्षयेत् शौचं आदितः;
आचारं अग्निकार्यं च, संध्योपासनं एव च ।

Remember that Ethics has no foundation without Religion, that our Social Organisation is based on a few unshakable principles of Psychology, Aḍhyāṭma-Viḍyā and Véḍānṭa Philosophy, Brahma-Viḍyā, in which all Religion culminates. If you wish to know, and you ought as Hindus to

know, what Sanāṭana Ḍharma (miscalled Hinduism) really is, then read the Text-Books of that Ḍharma published by the old Board of Trustees of the Central Hindu College, whose Golden Jubilee was celebrated here five weeks ago.

My heart goes out to you in deepest sympathy, when I think of the difficulties many of you will have to face before you find your bread-winning occupation and proper place in the Social Whole. I therefore pray with all my heart, in the solemn words of our great Āryan Manṭra, that the Light of the Spiritual Sun, whose brightest manifestation is our Visible Deity, the Physical Sun, from whom we derive all our Light and Life—may the Light of that Spiritual Sun illuminate your minds and inspire you with the power of will and wisdom which will enable you to help and serve yourself, your families, your society, and your country, and so help to make our Swaraj, a real Swaraj, the reign and rule of, not the selfish lower self but the philanthropic Higher Self, which has realised that the same Life runs through All.

HIS EXCELLENCY DR. MATINE DAFTARY, FORMER PRIME-MINISTER OF IRAN AT THE GANDHIAN SEMINAR, NEW DELHI.

It has been a great privilege for me so far, indeed, to have attended this international Seminar on Gandhian principles, in this historic capital of India, and thus be benefitted by the very excellent view-points of various renowned Indian as well as other scholars, who are here to find a way in the Gandhian doctrines, for promoting and preserving peace in the world.

Presumably, I too have been asked to this Seminar because the authorities of the Indian Government thought that I am also one of the devoted servants of the cause of peace. I must thank, therefore, the organisers for this rather appropriate view of myself, which they so kindly took. It is true, indeed, that for years I have fought for the ideals of the League of Nations now dead, and the present U.N.O. Accordingly I accepted this cordial invitation very gratefully, so that in this visit of mine I may succeed in benefitting from Gandhian teachings and thus stand before the objects of my visit, face to face.

I must confess I have not previously made sufficient study of Gandhian Thought. That is why I have been trying throughout to learn and to appreciate in this Seminar so far, rather than speak or address myself.

May I also remark that it has not been very difficult for me at all to follow and apprceiate all the deep and subtle things said on Gandhiji despite my previous insufficient study of him. This capacity to appreciate the noble ideals of Gandhiji is inherent in most of the Iranians, indeed, even our masses can appreciate and understand fully these great principles of love, non-violence and supreme sacrifice.

This fact, however, is accountable. For centuries Iranians have been under the spell of teachers like *Firdausi*, *Saadi*, *Hafiz*, *Sanai* and *Gazzali*, whose exhortations and teachings greatly resemble those of Gandhi. The great masters whom I am mentioning belong to all ages and to every clime. There is a universal appeal in these true leaders of humanity. Saadi of Iran is equally owned by India, and Gandhi of India belongs to India and Iran alike.

It would not be impertinent, therefore, if I mention here that there exists a very striking and wonderful analogy between the Gandhian ideals and the ones preached and supported by the Iranian poets and mystics. During a chequered and long career of some nine hundred years in India of the Persian language, the Iranian genius has become so inextricably wedded to the Indian mind that both seem sometimes to have emanated from one and the same source.

Any student of literature would find that the same unqualified insistence on non-violence and purity of thought and action, spirit rather than matter, idealism rather than brute action, forgiveness rather than retribution, truth rather than evil, which Gandhiji has preached with great fervour in our own times have in the past been fervently sung by the great Iranian poets. To corroborate further what I have said I would like to quote a few Persian lines and would also read out their translation to you.

Saadi, whom we all know and love, says :—

'All mankind are limbs of one another,
In origin their descent is same.
When some one part of the body aches,
The rest of the limbs become restless.
Thou who careth not for the grief and the wale of men
It befits not to call thee human.'

Another poet says :—

'The controversy between *Faith* and *Heresy* terminates at the self-time place at least,
The dream is one, interpretations very.'

Then again :—

'I stare in wonder why all this bitterness between *Faith* and *Unbelief*,
When both the *Kaaba* and the temple are ablaze from the same torch.'

Orfi says :—

'The inmates of the *Kaaba* worship the door,
The devout adore the book,
Let the curtain be discovered to reveal,
That the friends are worshipping something else.'

And then a beautiful stave from Hafiz :—

'Love is all pervading
It has enveloped the Mosque and the Church alike.'

Now that you must have appreciated how I and my countrymen are psychologically in a position to understand the teachings of Gandhi, I wish to make my own humble contribution to this Seminar, and thus try to benefit fully from Gandhian treasure—housed of *truth* and *knowledge.*

To-day none is there in the world who is not greatly perplexed and *at sea* in regard to his future. What are we to do then in order to avoid the mistakes of the past ? This is the most important question. Well, to the various learned discourses that I have been listening here, that of Maulana Abul Kalam Azad, our distinguished President, has left a deep impression on me. I am quite sure if only we keep in view his line of thought we shall in this Seminar achieve something worth while.

May I quote from his speech some very thoughtful pieces. He said, "The responsibility of World War II was generally laid on Hitler, but if one asked who created Hitler, the answer would be the signing of the treaty of Versailles was the moment of Hitler's birth............". Then again, "World War II was nothing but a release of the hatreds that were generated in Germany in consequence of the Versailles treaty. World War II is now creating conditions for a third World War. Who can say where this process of destruction will take mankind ?"

Gentlemen ! As a fervent believer in the U.N.O. ideals I wish to add to what the Maulana reminded us that U.N.O., the only hope of humanity today, is also lamentably going the way of its predecessor, the League of Nations. The League paid little heed to the petitions of the nations who were demanding revision of their fates and complained against the state of affairs resulting from the most unjust treaties and pacts, but the League remained adamant. War came, and the big fire that blew up, burnt away the League itself. U.N.O. too liekwise has to-day shut up its doors upon several of the nations and countries, whose co-operation is needed for strengthening peace. U.N.O. remains unfortunately disregardful of the joint commitments of its members and is only a spectator of the attempts made by different nations towards economic or political pressuring of others and has apparently no desire to check them.

U.N.O. has even failed to show any regard to what, in my opinion, constitutes the most important of all its missions, i.e., "to recommend

measures, which would guarantee the peaceful adjustment of situation whatever their origin, and which appear or are calculated to harm and jeopardise the general welfare or the amicable relations between the nations".

This important assignment of the U.N.O., as prescribed by the article *14* of its charter, implies that all injustices of the past are to be rectified and that all those concessions which the stronger nations had forcibly snatched away from the weaker nations, are to be totally annulled, enabling thus all nations to enjoy equal rights in a practical manner.

How then are we to apply the Gandhian principles of justice and toleration, when we find that the *wrongs* done in the past are still there ?

I was rather pleased by the coincidence of this assemblage of ours with Mr. Attlee's visit to Delhi. That 'imperialism is now undergoing the process of dissolution and liquidation' was a very significant utterance made by Mr. Attlee in his speech in the Indian Parliament. I wish big powers of the world may take this gesture from Mr. Attlee, and may agree in a practical manner with this pronouncement, so that imperialism dies down completely everywhere, both in the East and in the West. It must be obvious to all, that with imperialism being there, there can be no real peace in the world, nor can the third world war be avoided.

Now in order to be able to discover the way of benefiting from the Gandhian *precepts* and *morals* let us take stock and adequately assess the situation, confronting us to-day. In this respect I cannot do better than quote the very graphic words of Lord Boyd-Orr. He said, "There are four significant factors in the modern world which have to be kept in mind considering the possibility of applying Gandhian techniques to the solution of internal and international tensions : *the first*, the advance of science that has created conditions which can either eliminate hunger and disease or can annihilate mankind, *the second*, the concentration of power in the hands of a small minority, leading to *the third*, the transformation of the world so that there are only *two nations* who can deploy overwhelming military power ; *the fourth*, a hopeful factor, the great development in the ethical consciousness of the masses, mainly as a result of the progress of education."

With this world situation, the issue claiming all priority of thoughtful deliberation is : What are then the rest of the nations to do ? Are they merely to stare and stand motionless, and fascinated before the two *Bigs*,

providing irresistibly the fuel for the third huge inflammation ? Are they to remain scattered about, some becoming subservient to *this*, and some to *that* big power ?

Or, are they to draw closer to each other, creating thus a strong group-alliance on the basis of love of peace and security ? But in so doing not severing our ties with the U.N.O., and also to so contrive that a danger of any third big collision may be considerably eliminated, and the great ideals and objectives of the U.N.O. as for example seeking reduction in nation's *armaments* may profitably be achieved.

Does it not therefore behave us all to make a solemn pledge to assist each other in the event of an aggression, and rout it whosoever be the aggressor ?

Mr. Kripalani has rightly referred to this notion when he announced in the course of a nice speech of his that 'the problem before the world to-day is whether Gandhiji's principles of non-violent resistance could be applied to conflicts between nations ?' According to Mr. Kripalani, this was possible if 'an individual nation was ready to make sacrifices for an international cause, exactly as an individual does for a national cause, achieving thus a standard of morality.'

True, an individual should immolate himself for a national cause, setting an example for others, as Mahatma Gandhi did in very recent years, and so should be the case with nations, sacrificing themselves for international causes.

In the world of to-day, with war not apparently very distant, if all the peaceful and freedom-loving nations in *Asia*, *Africa*, *Europe* and *America* do not actually rush towards mutual concord, and assist one another, helping create an effective peace front, mere individual efforts on the part of nations would be tantamount to a suicide.

If the European countries have not read the signs of time yet and felt our pulse in Asia and Africa, thus far realising that no more we are going to coalesce with imperialism or exploitation of any type whatsoever, and if these nations are not going to join us in the struggle for constructing the edifice of peace, and if those in the Western Hemisphere consider themselves quite far away from the scene of action, why should we, the Asian and African nations not come forward ? May be this initiative on our part might induce others to join us and also to co-operate with us in this *battle of Right*.

To build up an effective and strong front of the *Asians* and *Africans* greater and yet greater mutual understanding is urgently needed between us. If supposing the trade relations can't for some reason or the other get speeded up, let not the cultural ties be spared ; on the other hand these must be strengthened.

Gentlemen ! this is an age of nationalism. Nationalism to my mind is a re-action to imperialism, so it is good only so long as it holds imperialism in the bay, but it must not preclude our becoming mutually more and more united. Let the dagger of nationalism be therefore sharp for imperialism only and not be used to cut ourselves adrift.

Some days back Mr. Nehru said that Indian people were not against the British people in their struggle but against the British imperialism. This view was later repeated by Mr. Kripalani too. Indeed this is precisely the right frame of mind to be commended. We should be friends of all nations and not become averse to any.

I must observe, however, that if at all, and whenever, the imperialist policy is followed, whatever the *power that be*, in East or West, they are to be *resisted*. This would be genuine and a reasoned nationalism. But let not a show of supra-nationalism, hide-bound and parochial, narrow and extreme, stand in the way of mutual *intelligibility* of nations.

For then our maladies would aggravate, and the differences, linguistic, religious and otherwise, which have come to us as the gift of imperialism, would only sharpen and take roots. I would like to illustrate my point of view further for it is of considerable moment to me. Suppose, we, the Iranians, try to exterminate Arabic words from the language spoken by Hafiz and Saadi, the Turks turn out the Persian words, replacing them by newly coined Turkish words, and our Indian friends disown the vast Persian heritage so akin to the genius of Indian soil and Gandhian philosophy, where shall we possibly land ourselves ultimately ? These re-actionary and separatist movements among us would throw us further and farther away from one another, bringing in their wake, isolationism and an intellectual alienness.

May I ask, by the way, whether it would not be rather a reflection upon us all that we should perforce have to adopt one or the other of European languages, brought to us by imperialism, in order to make our views known in such gatherings as this ? I am not opposed to these

languages as such. All I want is to make a plea for the rich and great Oriental languages. The promotion of these languages is bound to melt away the barriers between us.

I should also like to say in this respect that regarding disputes, territorial or otherwise existing between us, let us liquidate them magnanimously as far as possible. Thus alone can we succeed in stopping aggression.

Thus alone, i.e., by minimising all our possible differences of spirit and outlook, of language and religion, can we apply the *non-violence* and *non-co-operation* of the Gandhian concept.

I am reminded here of what our dear friend Mr. Kripalani said, "If every nation acted truthfully and honestly and was prepared to suffer for its faith, the aggressor would in course of time be exhausted".

Gentlemen! in case isolationism in Asia persists any more, the alternative would be a further and as more vigorous exploitation of us all, either by *state capitalism*, or the exploiting trusts. As long as exploitation exists, it would remain impossible to eliminate war. It is only in peace that it is possible for us, the so-called under-developed countries and to thrive and to prosper. In peace alone can we build up prosperity in our own homes, by providing *bread* and *work* for all, securing a more reasoned distribution of wealth, raising the standard of living of the common man, lessening the class conflicts, achieving thus a sort of a *social justice and equity*.

Gentlemen! war widens the scope of imperialism. In the event of war the freedom-loving peoples in particular, are chastised with malevolence and recrimination, there remains neither the *bread* nor the morality. Indeed as one of my teachers was went to repeat, "to talk of *law* or *morals* in war is a fantastic nonesense," for war knows no principles or canons, neither the international nor the national laws. Nor are the moral exhortations of great spiritual masters at all shown any regard, and I am pretty certain, if war comes the eloquence of Professor Massignon also, which the other day he unleashed in the defence of the war-wounded and the refugees of war would pay no dividends.

Let us, therefore, take a solemn pledge, and *vrata* after the Gandhian pattern, not to hesitate, so long as we live, to plant ourselves solidly, against forces of aggression, from whatever the quarter it comes, and whosoever happens to be the aggressor.

MRS. ANNIE BESANT, FOUNDER OF THE CENTRAL HINDU COLLEGE*

Pt. Iqbal Narain Gurtu

Friends,

Our revered countryman Dr. Bhagavan Das spoke with great knowledge and effect on the 'Ideals of the Central Hindu College' last evening. How I wish he were also asked to speak on the subject that has been assigned to me, namely, 'Dr. Annie Besant, the founder of the Central Hindu College'. My wish is based on two very valid grounds. Firstly, because Annie Besant's personality and the ideals of the C.H.C. are two inseparable factors as she was in fact the living embodiment of those ideals in her own person. Secondly, Dr. Bhagwan Das was one of her chief collaborators and trusted workers even long before the College was started in 1898. To most of us her great educational work through the C.H.C., and the phenomenal success it had achieved in a very short time strikes so prominently. But, in fact, we cannot correctly appreciate the value of her remarkable contribution towards human progress, unless we try to understand her whole life and the high principles which she stood for throughout her long life, so crowded with big events and equally great crises.

I shall, first, briefly deal with the period of life which she spent in England before she came to India in 1893, at the age of 46. As a child and as a young girl she was deeply religious and a devout Christian and married an evangelist. Soon afterwards, she went through a period of considerable doubts and misgivings about the theological views in which she was brought up. Her views gradually completely changed and ultimately she left the christian faith and became a materialist and an atheist. This was the first great crisis that she had to face. It cost her home and children, even her reputation, and she was subjected to caseless vilification, but she stuck to her convictions undaunted. She took up scientific studies which led her to scientific Freethought movement which was so largely influenced by Darwin's discoveries. She began to work with Charles Bradlaugh and the combination of these two forceful personalities caused a great stir as they fearlessly fought for the cause of liberty of conscience and freedom of thought. It was at this time that Mrs. Besant wrote her history of the Great French Revolution describing the people's point of

*A paper read on the occasion of the Golden Jubilee of the Central Hindu College, Banaras Hindu University, on 14th November, 1952.

view. The well-known fight put up by Bradlaugh and Besant in reprinting the Knowlton pamphlet on birth control is a great landmark in the struggle for freedom of thought. They were both prosecuted by the police and it was then that Mrs. Besant argued her case personally before the court. Another great episode was the fight which was put up when Bradlaugh was elected to Parliament three times but had repeatedly refused to take an oath on the Bible. He was imprisoned in the Clock Tower of the House of Commons for 36 hours. Mrs. Besant was throughout by his side and pacified an angry crowd single-handed. The law was ultimately modified. Often Mrs. Besant used to say that she learnt a great lesson from Bradlaugh how bad laws should be changed by persistent constitutional agitation without having recourse to any kind of violence. Gandhiji has himself stated that when he was staying in London as a student he was a great admirer of Bradlaugh and Besant.

While she had thrown herself, heart and soul, in the Freethought movement her heart was seeking solutions of social and economic problems and ultimately she joined the Fabian Society of socialists, but it was a tragic moment in her life as it involved differences with Bradlaugh with whom she had so bravely fought for liberty of thought. Her ceaseless work in addressing mass meetings, writing out pamphlets, organising Trade Unions and conducting the strike of match girls etc., is still remembered in England. According to Bernard Shaw "She had become an expeditionary force, always to the front when there was trouble and danger". She strongly supported the Women's cause and the Irish Home-Rule agitation. A few years before coming to India she was elected to the London School Board and although she worked as a member of the Board for only three years, she was able to get many useful reforms introduced for raising the standard of the education of children and in improving the lot of the half-starving children, in regard to their feeding and medical care. May I here also remind you of the great interest in, and affection for children on the part of our great Prime-Minister Jawaharlal Nehru whose birthday Anniversary is being celebrated to-day, all over the country, by organising it as a children's day. Mr. Nehru had met Mrs. Besant as a boy of 12. Later, he again came into contact with her in the days of Home-Rule agitation and became her devoted admirer.

This is a very brief and rapid survey of Annie Besant's life and work for nearly twenty years in England before her departure for India. She had already sufficiently proved herself to be a person of swift decisions

and a great champion of the oppressed, and the poor. Her capacity for prodigious and tireless work, her matchless courage and heroic methods, her superb oratorical gifts and transparent honesty of purpose, always brought her to the front. She was often criticised for inconsistency and for rapidly changing her views and convictions. What her critics sadly miss is that in her quest of Truth she joined several movements in succession and served them with a remarkable singleness of purpose, but she would not allow herself to be simply possessed by any movement for long after she had outgrown it by learning all she could from it. People used to say that she will die a Roman Catholic. The rapid changes in her outlook simply denoted the continued anguish of a divinely discontented soul which was in dead earnest and eagerly sought the abiding solution of some more rational and catholic faith. She found it at last when she joined the Theosophical Society in 1889. Her transition to the Theosophical movement was indeed remarkable. The late Mr. W. T. Stead, the celebrated Editor of the Review of Reviews, one day gave her Madam Blavatsky's work 'The Secret Doctrine' for review, and as she turned page after page of that great work it gradually began to dispel her long continued doubts and its study caused considerable relief to her disturbed soul. She sought an interview with the author of that book and since that day she never wavered in her adherence to the Theosophical movement for over forty years till her death. Madam Blavatsky died in 1891. Mrs. Besant, as was usual in her case, soon attained a high position in the Theosophical circles.

Let us pause here for a moment and try to see how the experiences that she had gained during those 20 years in England in the different fields of activity, served as a wonderful preparation for her great and monumental work that she was to do in India in the next 40 years. The phase of materialism and Atheism that she went through, gave her an almost intuitive insight into the psychology of a large majority of Indians brought up on western literature and culture, and influenced by the then aggressive attitude of western scientists towards Religion, and who were almost completely ignorant of their own literature, philosophy, and culture. Her struggle for Free-thought and the part that she took in Irish Home-Rule agitation had prepared her for the remarkable work that she was destined to do in the field of Indian politics and for National Freedom from foreign imperial yoke. Her study of socialism gave her a keen insight into social and economic problems that were soon to arise in India in the wake of freedom and the spread of democracy. And the last, namely, her study of Theosophy inspired her with a fresh attack on the mystery of life and placed in her hands the master

key which enabled her to offer, both to the East and the West, useful practical suggestions for the solution of their problems.

After her study of Theosophy, Mrs. Besant realised that man does not have a soul, he is in fact a soul and has a body. She thus started looking at the future progress of the world from the standpoint of the spirit. She began to look at man as God in the making and therefore, emphasised that his essentially divine nature must be allowed to express itself more and more fully through his physical, emotional, and mental nature. This unfolding Divine Spirit must become the all-pervading influence governing human relationships in a well-integrated and properly organised National life. We have firmly to grasp the truth that we all share a common life and are rooted in that life. To her, a living and vital sense of Brotherhood was but a natural expression of the realisation of this law of common life. It is this realisation which developed the supreme quality of love and created an urge for service and sacrifice. Where Brotherhood was lost sight of, it resulted in destruction of the social framework which was in actual practice built on its denial. To her, the uniqueness of the ancient Indian civilisation consisted in the fact that while it did not neglect the material needs of man, it aimed at the achievement of a spiritual end. Even in her present degraded condition a higher value was set on the development of the soul than on mere material interests. She, therefore, decided to make India her home and to serve her to the best of her power and capacity. It was full 59 years ago that she landed in India on 16th November, 1893. She used to look at India in the greatness of her past and not in the degradation of the present. Her faith in India's great future always remained unshaken. To her, India formed the last hope for the spiritual uplift of mankind and she used to say that if Indians yielded to the lure of purely material advancement then 'in their spiritual death humanity shall find its grave'. She was not only fascinated with India's glorious past and had a clear vision of its great future, but she was also fully conscious of how sadly it had departed from the past. She plainly told the Indians, "Let not the conservative instinct of the ancient civilisation make you utterly close your eyes to the needs of the present, to the demands of future...As India is lying today she is prone to the ground, helpless, degraded—nothing scarcely of its power, and little of its knowledge remain. Strangled in the fetters of custom that have grown round her limbs through centuries—is she to lie there till her swoon passes into death, so that the light that India shall again give to the world shall be the light of her funeral pyre, the flame in which is perishing a dead civilisation ? If India has still something

of her ancient spirit of love, of patriotism, of devotion, then it is possible the change we long for may come. Choose *you*, the choice is yours and not mine. For me, as long as breath remains in me, I shall strive to help this land, the greatest of all lands in the past, the greatest of all the lands in the future, *if you will*".

She repeatedly drew our attention to three fundamental principles which materially help in National Reconstruction on sound lines. (1) That no nation can ever reproduce entirely its past. What was possible was to re-establish certain principles which could be adapted and applied to the demands of new conditions and circumstances. (2) That National Ideals could be effectively utilised only when they were in harmony with National genius and character which grew out of the nation's own past. (3) That nations, like individuals, embodied a fragment of Divine life having their distinctive line of evolution and therefore, it would be disastrous for one nation slavishly to follow the evolution of another.

Mrs. Besant looked upon the spiritual values of life as the true source of human energy. When India's spiritual impulse weakened she had to pay the penalty of a rapid decay in creative intelligence which finally resulted in the decline of material prosperity and the loss of her political freedom. That is why she decided that the revival of Indian life must follow the order in which India's decline had come about. Her first work therefore, in India, was to attempt to bring about a spiritual awakening. Religion was to her necessary as the basis of Morality, as the inspiration of Art, and as the foundation of a truly inspiring Literature. It was not possible to have a great nation without Morality, without Art, and without Literature which was to be original, produced by creative intelligence and not merely commentative and imitative. It was, therefore, imperative that Religion should be an integral part of education. It was not enough to leave religious training to the home or to voluntary classes. In her Freethought days she used to feel that the one thing necessary to assure Freedom was to make life 'secular' that morality should be based on Utilitarianism and Religion was merely superfluous. Like most of the Radicals of those days she only believed in free, compulsory, and secular education. Her approach to the problem of education was, however, completely changed under the influence of Theosophy. She was convinced that if religious training was left out of education it would be shutting it out of life. Boys and girls will lay greater emphasis on topics which were dealt with in the curriculum and are sure to treat outside subjects not only with indifference but often

with contempt. Nor were they, in the large majority of cases, to turn to the study of a subject which was ostracised in the school and college. In after-life in most cases she said, "The world will have hardened them, social ambition will have fettered them, the brains will be less plastic, the heart less warm than in the eager and passionate days of youth. Life's ideals must be wrought in the soft clay of youth and they will harden into firm material with maturity". She fully realised however that "what Religion has to face in the controversies of today is not the unbelief of the shy but the unbelief of the educated conscience and of the soaring intellect and unless it can arm itself with a loftier ethics and a grander philosophy than its opponent, it will lose its hold over the purest and the strongest of the younger generation".

It were these considerations which led her to establish the Central Hindu College here in 1898. My task is very much lightened by the very lucid and instructive talk that Dr. Bhagawan Das has given on the Ideals of the C.H.C. I need not restate them here though I may have to refer to them later. It is, however, necessary to point out that she was very particular that boys and girls should be taught to be religious without being sectarian, and to love their own faith without being aggressive and fanatical, and without decrying and hating the faiths of others. Religion was to be made a unifying and not separative force; it was to build up nationality without being used as a disintegrating factor. This was particularly necessary—nay, even imperative—that sufficient emphasis should be laid on this aspect of the question in India where the followers of so many faiths lived side by side. That is why not only Sanatana Dharma Textbooks were compiled on catholic lines of which Dr. Bhagawan Das spoke yesterday, but later on she also compiled the two volumes of the Universal Textbook of Religions which contain a mine of information about the common tenets and ethics of different important religions of the world. I would earnestly request you to study the Sanatana Dharma Textbook and also the Universal Textbook of Religions. After the C. H. College was handed over to the Banaras Hindu University she tried even a bolder experiment by starting several Theosophical Schools in the country where children, belonging to different faiths, may be taught not only the tenets and ethics of their own faith but also the tenets and ethics of other faiths which had a remarkably common basis. In this manner the boys and girls were to grow up to be good citizens of India and live on friendly terms with each other. She even tried the experiment of National Education in the National University of India of which I shall speak later.

As Mrs. Besant began to grow older she became more and more anxious to implement as soon and as far as possible her great ideals for the uplift of India. The problems of Nation-building had to be solved. In a country like India a common Religion, she felt, was hardly possible, but what was possible was a recognition of a common basis for all religions and the growth of a liberal and tolerant spirit in religious matters. She strongly maintained that the Indian Nation of the future must combine into one coherent and well organised body men of different faiths and of different races who in the past may have been opposed to each other and even bitter enemies. To this end, it should be taught that religion in its essence was one and indivisible, and the various religions were merely the intellectual representations of one basic truth which was the oneness of the all-pervading Universal Supreme life from which all other seemingly separated lives were derived. In her later days, and certainly after her death in 1933, times had changed and tempers had changed and more and more emphasis was laid on the theory of separate and divisible nations which brought about the tragic partition of India. But the lines she had chalked out can even now be tried and followed in the present Indian Union which still rightly claims among its citizens followers of different faiths. Shall we have the wisdom to do it ? He will be a bold person who can answer it with certainty.

I have said that as time went on problems of Nation-building in India began to press themselves more and more on Mrs. Besant's mind, and she felt that while the right kind of religious training was essential, and the education of Indian youths on National lines was a paramount necessity, very little success could be achieved without India being politically free. She began to turn her attention therefore more and more to Indian politics. At the commencement of this century India was in a state of high tension. In 1905 Lord Curzon's scheme of the partition of Bengal—now curiously accepted by the country—had created a wave of bitter resentment and had driven a section of Indian youths to adopt methods of violence. The seed of the future Revolutionary Movements in India was sown then. Mrs. Besant who was closely watching the trend of events and had herself made a serious study of the French Revolution felt that the best interests of India lay in her striving for freedom without violating law and order. In 1913, she decided to throw herself into Indian politics. In 1914, the first world war broke out and the British statesman loudly declared that Great Britain and her allies were fighting for freedom and nothing short of freedom. Mrs. Besant seized this opportunity and with her amazing insight into the true nature of the Indian problem she decided that England must be plainly told

that her Imperial yoke was quite intolerable and degrading to India. She proclaimed in her forceful manner that instead of asking for piecemeal reforms the country should make a clear demand for Home Rule which would be more consistent with her self-respect and dignity. Her magic formula gave a new turn to the political outlook and ambition of India, and in fact constituted an entirely new departure in the history of Indian political struggle. With her usual clarity she framed the charter of India's liberty as follows:

(1) To be free in India, as the Englishman is free in England.
(2) To be governed by her own men, freely elected by herself, and to make and break ministries at her will.
(3) To levy her own taxes, to make her own budgets.
(4) To irrigate her own lands, to mine her own ores, to mint her own coins.
(5) To educate her own people.
(6) To carry arms, to have her own army, her own navy, her own volunteers.
(7) Britain and India hand in hand, but an India free as is her right to be a sovereign nation within her own borders.

Ladies and Gentlemen, Is this not what we have achieved after August, 1947? There is only one difference. She did not press for India remaining an 'Independent' country, but was not opposed to it if India so desired, although she advised it to remain an integral part of the Indo-British Commonwealth. I have no time to go into the reasons which she advanced for such a course. Today, India has elected the more logical course of forming an Indian Republic, but the country has voluntarily associated itself with the Commonwealth, as it is constituted today. It is interesting to note how certain great principles which she eloquently proclaimed for the Indians of her own unsettled generation have now been accepted by Great Britain and India.

Let me here for a moment revert to the Home Rule agitation which she carried on with her extraordinary power of leadership and with her titanic energy. Within a few years she made the Home Rule demand very effective and, as Gandhiji has put it, the demand soon became a potent *mantram* in every cottage. The phenomenal success of the vigorous agitation carried on by Mrs. Besant created its own reactions and she was interned by the then Government. Her internment made the movement

very much stronger and she had to be released after a few months. She continued her great work and strongly urged that India should frame its own Constitution and not have to accept a Constitution shaped by England. As a matter of fact she did plan out a Constitution with the help and co-operation of a number of important public men in India. The Constitution was embodied in the Commonwealth of India Bill which was actually introduced in Parliament in 1925 and went through its first reading. It did not progress further, mainly because of lack of support from our country which had become very bitter and suspicious after the conclusion of the first World War on account of the misdeeds of the then Indian Government which had passed the obnoxious Rowlet Act and was responsible for the infamous Jallianawala tragedy and had introduced a niggardly Reform scheme. The country decided to launch upon a scheme of Non-co-operation and had to go through a long period of agitation with its ups and downs for nearly another quarter of a century. Mrs. Besant who had during the Home Rule agitation reached the very height of popularity became very unpopular because of certain differences as regards the method and character of political agitation adopted in the country. My task here is merely to give a brief account of the events as they took place without entering into any controversy. It is enough to state that these differences created the most tragic and poignant crisis in her old age. It cost her so many friends and co-workers in the political field. Once at a meeting in a neighbouring district, when the crowd jeered at her, she remained gentle and patient and remarked to a friend that all these years her white body had been an asset, but it was no longer so and thus her work had been crowned with success. Even her erstwhile colleagues in the political field began to suspect her of being pro-British and an imperialist. She would tell them, "You are right to distrust. We have done you sufficient injury to merit distrust. But friends, I will trust you and work with you". One is reminded of what she wrote in her autobiography about the times she had to pass through her younger days when she was an Atheist and a Freethinker. "But here, as at other times, I dare not purchase peace with a lie. An imperious necessity forces me to speak the truth as I see it, whether the speech please or displease, whether it brings praise or blame. That one loyalty to Truth I must keep stainless, whatever friendship fail me or human ties be broken. She may lead me into the wilderness, yet I must follow her; she may strip me of all love, yet I must pursue her; though she may slay me, yet will I trust her; and I ask no other epitaph on my tomb but "She tried to follow Truth".

Let me, with your permission, once more refer to the C. H. College which was later merged into the Hindu University. She used to love the College as a mother would love her first-born child. Her appeal to the younger generation on the occasion of an Anniversary is still ringing in my ears. She charged the young students in such soul stiring words: "Aim at progress my sons, strive to make India's future worthy of her ancient greatness. Outgrow your fathers in knowledge, outstrip your elders in devotion. The days of India's greatness are by no means over; her future will be mightier than her mighty past. India shall wield a power greater than the Imperial if only her people will realise her true strength and utilise it, leading a life in which spirit shall guide and love shall inspire".

On another similar occasion she appealed to the staff and students in her inimitable language which went deep down our hearts and shock us to our very bones. Said she, "How many years lie in front of us, none but the High Gods know. But this only we may hope, that as long as our motherland needs our service, so long may this College remain to train up youths for her helping. And if the day should ever dawn when work here shall be ill done, when this place sends out sons unworthy of their motherland, then may this institution perish and leave no trace behind it, no record in the Nation's history. For we are here only to serve, and service is the only justification of our existence. When service is over, our work is done". We are thankful that the C. H. College has not perished, but has grown from strength to strength after it was handed over to that wise, patriotic and far-seeing leader Pt. Madan Mohan Malaviya, under whose guidance it has so much flourished.

This leads me to refer briefly to the foundations of this University. It was a curious coincidence that three great leaders in our country representing somewhat different schools of thought were seriously thinking of establishing a University. Shri Malaviyaji had been thinking of it for some time past although his first prospectus was placed in 1904 before a meeting which was held in the Mint House here. The late Maharaja of Darbhanga had also been thinking in the same direction. It was a year before the Mint House meeting that Mrs. Besant openly appealed to her audience in Bombay on 9th March, 1903 to help her in founding a University. She said, with an almost prophetic foresight, "I hope to see in days to come a Musalman University growing out of the Aligarh College and a Hindu University growing out of the Banaras College, so that these universities may lead the National life of India as the Oxford and Cambridge

Universities lead the National life of England...I want you to make a public opinion which will enable the Banaras College to grow into a University— where the students will learn Hindu religion and western culture and will know the West without becoming aliens from their ancestral faith. It is the mightiest enterprise for which I ask your sympathy, your goodwill, and your financial aid." This was quite eight years before the scheme of merger was agreed upon. For various reasons, the chief among them perhaps being the agitation on the partition of Bengal and the movement of National Education and the talk about the establishment of a National University in Bengal, that the idea of establishing a University at Banaras did not materialise. It was in April 1911 that the leaders met and a merger of the C. H. College with the proposed Hindu University was decided upon. What is still more worth noting is that a year before this agreement was arrived at, Mrs. Besant had already applied in 1910 to the King Emperor, with the consent of the then Viceroy, for the grant of a Charter for the 'University of India' like what was done in the case of Oxford and Cambridge Universities. The scheme was published in 1910 in the C.H.C. Magazine. The main features of the scheme were, that no college in which religion and morality did not form an integral part of the education given will be affiliated. It will make no distinction between religions, accepting equally Hindu, Buddhist, Parsi, Christian and Muhamadan, but it will not affiliate any purely secular institution. While Western thought was to be amply studied, Eastern thought will take the lead and western knowledge will be used to enrich, but not to distort or to cripple the expanding National life. Special attention was to be paid to Scientific and Technical training and to Agriculture, Indian Arts and Crafts. You will see that with the exception of the teaching of all religions the scheme of the Banaras Hindu University ran almost parallel to her scheme of the 'University of India' and as a comprise Mrs. Besant agreed to it in 1911 and dropped the idea of establishing straight away a more cosmopolitan 'University of India.' The wider scheme was again tried in the National University started by her in 1917 of which Rabindra Nath Tagore was appointed the Chancellor. For want of funds the National University had to be closed.

Friends, you will see that in many respects Mrs. Besant acted as a 'Pioneer' of many useful movements in India. She also met the fate of the pioneers who usually start an idea or a movement before the time is fully ripe for it and the idea becomes commonly acceptable. The pioneers, however, keep fighting against temporary failures. A seasoned warrior

that she was she would take no defeat, though in the end advancing age very much stood in her way. In one of her rare and occasional moods alternating between hope and despair she has beautifully described her own position in a language where sweetness and pathos is mingled with fire. Said she, "Sometimes I look forward to the happier days of tomorrow —then men and women will look back to the days in which we are and they will say : we thank them that in the days of fear they still were brave ; that in the days of ignorance they still looked forward to the hope ; that in the darkness they never forgot the coming light...To see India hold up her head among the Nations, to see her sons and daughters respected everywhere, to see her worthy of her mighty past, engaged in building a yet mightier future—is not this worth working for, worth suffering for, worth living, and worth dying for".

Friends, Mrs. Besant has gone out of physical existence and has been almost completely forgotten by a country which she so fondly loved and called her Motherland and which she worked for, suffered for, lived for, and in the end, died for. It will be no use trying in any manner to characterise this strange attitude of our countrymen, but let us at least in this University offer to her our respectful thanks and grateful homage for how she stood for us during 40 years and more and how she cheerfully suffered for our cause. There need be no doubts about the verdict of posterity for whatever was true, honourable, pure, and lovely in her life and work—and it has been so in an abundant measure—will abide the test of time.

———

PRINCIPAL'S WELCOME SPEECH AND PROGRESS REPORT READ ON NOVEMBER 15, 1952, ON THE OCCASION OF THE GOLDEN JUBILEE OF THE CENTRAL HINDU COLLEGE, BANARAS HINDU UNIVERSITY

DR. RAMA SHANKAR TRIPATHI

Revered Rashtrapati, Mr. Pro-Chancellor, Mr. Vice-Chancellor, Ladies and Gentlemen,

It is my pleasant duty and privilege to accord, on behalf of you all, a respectful welcome to our distinguished Guest of Honour, Dr. Rajendra Prasad. We are beholden to him for having graciously accepted our invitation to preside over this function on the auspicious occasion of the Golden Jubilee of the Central Hindu College. Believe me, we feel greatly heartened and elated by the presence here this afternoon of one, who is not only the Head of our young Republic, symbolising the unity of the Indian Nation, but who also occupies a unique place in the hearts of his admiring countrymen by reason of his moral grandeur and lofty idealism. His life has been, indeed, a lyric of sweetness, a sermon of simplicity, service, and sacrifice, and an epic of heroic endeavour in the cause of India's emancipation and progress.

I beg also to extend our respectful welcome to Maharajadhiraja of Darbhanga, our Pro-Chancellor and a Patron of the University, to His Highness the Maharaja of Banaras, whose house is well-known for its generosity, and to Pandit Govind Ballabh Pant, Chief Minister of Uttar Pradesh, who is the very personification of sagacity and serenity.

And I hasten to offer our most cordial welcome to the galaxy of distinguished personages, particularly to the venerable Dr. Bhagavan Das, one of the illustrious builders of the Central Hindu College, who have kindly responded to our invitation and are here to bless and encourage us.

The Central Hindu College is the matrix from which the Banaras Hindu University has arisen. The sapling, which has grown into a mighty tree, and under the shade of which many of the present constituent colleges of our University were nurtured, was planted on the 7th July, 1898, by the illustrious Dr. Annie Besant, whose services to India are manifold and inestimable. It began functioning in a modest manner as an Intermediate College, with the High School classes attached to it, in a small rented house at

Karanghanta, and was originally supported by the local Hindus and a devoted band of Theosophists, but the splendid start it had at the hands of Dr. Annie Besant and her team of selfless workers soon attracted the attention of His Highness the late Maharaja Sir Prabhu Narain Singh, Kashi Naresh, who gave extensive land and a big block of buildings, situated at Kamachha, on the outskirts of the city, and the college was then shifted there during the Shivaratri holidays between the 7th and the 12th of March, 1899.

It was surely an unerring spiritual instinct and wisdom, which led its Founder to choose Banaras for the location of the College, for this sacred city is not only the metropolis of Hinduism but also a renowned seat of learning and culture from time immemorial. Banaras is indeed "a local habitation and a name" for that unique combination of beauty, sanctity, antiquity and modernity by which it is distinguished above all towns.

The basic principles, which the great Founder had in mind when she established the Central Hindu College, were, to quote here own words, "the teaching of the Hindu religion, the uniting of Indians and Englishmen in friendly co-operation in a common work, and the affording of a cheap but first-class education, the cost being met in the old Indian fashion by the gifts of the pious and the self-sacrifice of the teachers, instead of out of the pockets of the students". Her declared objective was "an education founded on Indian ideals and enriched, not dominated, by the thought and culture of the West".

After the foundation of the Central Hindu College Dr. Besant undertook countrywide tours for the collection of funds and the propagation of her ideals in education, and by her matchless energy, eloquence, and forceful personality she succeeded within a short time in enlisting the support and sympathy of the leaders of Hindu opinion and the people in general. Students from far and near flocked to this College, and soon it was put on a stable basis. In fact, its activities even expanded, for the control and management of certain institutions was handed over to the Trustees of the Central Hindu College by the Maharaja of Kashmir.

In accordance with the aims of the Central Hindu College religious instruction was made an integral part of the curriculum. There were, no doubt, obvious difficulties in the teaching of Hinduism. Its indefiniteness, the susceptibilities of the various sects, and the "cribbed, cabined and confined" outlook of old-fashioned conservatives were factors to be reckoned with. But Dr. Besant was not the person to deflect from her set purpose.

The mists of doubts and prejudices at last cleared when she got suitable Text-books prepared. Thus, three books were published in 1900, viz.,

(1) An elementary text-book on Sanatana Dharma,
(2) An advanced text-book on Sanatana Dharma, and
(3) Sanatana Dharma Catechism.

These books, in the preparation of which our revered Dr. Bhagavan Das had a great hand, soon became very popular and they ran into several editions. Many educational institutions scattered all over the country adopted them for religious instruction, and they sent their students for the Diploma examinations in religion conducted annually by the authorities of the Central Hindu College. Thus, by about 1910 the College had become the acknowledged All-India centre for religious instruction and examination.

In the present materialistic trend of humanity religion is at a discount, but let us hope it is only a passing phase. True, it may be a clog on secular education if it breeds intolerance or signifies simply barren and jejune dogmas and creeds, unmeaning restrictions and cumbersome rituals. But *Dharma* in its widest sense stands for duty and is a perennial means for the good of humanity. It lifts man high; it illumines his path; and it trains and ennobles his heart and mind. This was fully realised by the founder and promoters of the Central Hindu College and accordingly for the building of the character and moral fibre of the youth on sure foundations they laid stress on the eternal verities of life.

The Central Hindu College was not content with the imparting of broad religious instruction only. It instilled and aroused in the minds of the youngmen a spirit of patriotism, which constitutes the life blood of a nation. Here they learnt the inspiring lesson that self-sacrifice, discipline, and self-control were essential in the service of the Motherland, and that freedom could not be won or maintained by noisy demonstrations or tumultuous processions and the shouting of vulgar slogans. The emphasis laid on patriotism coupled with the growth of the national movement made the College suspect in the eyes of the British rulers on the one hand, and on the other its position became somewhat difficult with the national leaders too, because it would not allow students to take an active part in politics. The situation then was rather unenviable, but when we look back now it would be recognised that from the purely educational point of view the stand of the Central Hindu College was absolutely correct and rational.

Student life being a period of preparation for the hard struggle of life, a Parliament was started in the Central Hindu College in order to afford

students opportunities for cultivating powers of debate and for learning parliamentary procedure. Probably this College was the first institution in the country to form a students' Parliament. To-day India is a sovereign democratic Republic, and it would be in the interests of our present students if they properly understood the utility and importance of such a training ground for public life.

The Central Hindu College not only stood for a combination of religious and secular education, but it also became the channel of fruitful co-operation between Indians and large-hearted Englishmen. This was doubtless a most remarkable feature. Englishmen had come to India to dictate and to domineer. The Central Hindu College ushered in a different brand of Britishers, who were enraptured by Hindu culture and had resolved to dedicate their lives to its revival and diffusion. Among these pioneers, who dreamt of a synthesis between the East and the West, Dr. Annie Besant, the Founder-President of the Central Hindu College, was the most dynamic personality, and her splendid services will ever remain a source of inspiration to generations yet unborn. Another devoted soul was Dr. Arthur Richardson, the first Principal of the Central Hindu College. This "human heart strong in sacrifice and love" had completely dedicated himself to the service of the College. "I gladly give" said he in one of his speeches, "not only a few years of my life, but my whole life, for the offering once made on the altar cannot be taken back and given to another". How noble and elevating these words are ? Unfortunately, his health broke down due to overwork, and the College was thus deprived of his guidance. Mention may also be made here of other high-minded Englishmen, like Mr. Harry Banbery, the first Head-Master of the Central Hindu School, Dr. James Scott, Prof. M. Collins, Dr. George S. Arundale, Prof. A. W. Collie, Mr. M. A. Moore, Miss Lilian Edger, and Mr. E. A. Wodehouse, who demonstrated by their services in a missionary spirit that differences of race, colour, and creed were no barriers in the pursuit of a common ideal. A number of Hindus with an idealistic outlook also joined this distinguished band of our benefactors. The most prominent among them was Shraddheya Dr. Bhagavan Das, the saint-Philosopher, who happily is still among us. He gave up a promising career in the Government and became the honorary Secretary of the Board of Trustees of the Central Hindu College. He organised the work of administration and collection of funds and what is more himself took to the teaching of religion. His younger brother, Shri Sitaram Sah, too rendered useful service as Asstt. Secretary of the College Managing Committee. Pandit Iqbal Narain Gurtu, who also luckily is still

among us, was another eminent worker in the cause of the College Trust. Moved by a high sense of idealism, he unreservedly placed his honorary services at its disposal. The two Basu brothers, Upendra Nath Basu and Gyanendra Nath Basu, too, actively extended their co-operation to the College Trust. Prof. Krishna Chandra De, Shri Ambika Charan Ukil, Prof. Bireshwar Banerji, Dr. N. C. Banerji, Pandit S. B. Bhattacharya, Prof. P. K. Dutt, Prof. M. B. Rane, Prof. P. K. Telang, Mr. V. A. Dalal, Prof. J. N. Unwala, Shri I. Taraporewala, Pandit Cheda Lal and Babu Mata Prasad were other noteworthy persons who rendered valuable services to the College in its formative stages either as members of the Staff or in other capacities. Last but not the least is the Rishi of Nagwa, Shri Shyama Charan De, who by God's grace is still among us. His presence is a perpetual benediction and his life an inspiring sermon on self-sacrifice.

This splendid College, nurtured and developed by such a noble team of selfless workers, was transferred with all its assets and properties on the 27th November, 1914, to the Banaras Hindu University Society, which made this University a *fait accompli* as a result of the marvellous perseverance and indomitable will of that prince among patriots, Mahamana Pandit Madan Mohan Malaviya, who was the pride of his country and an ornament to the Hindu community. The University was incorporated by Act XVI of 1915 of the Imperial Legislature (the Banaras Hindu University Act), which came into force in March 1916. The Hindu University Society was dissolved by the Act, and the University came into existence. By a notification issued by the Government in October 1917, the Central Hindu College became a constituent College, the nucleus, of the new University. Its students, who until then sat for the examinations of the Allahabad University, were first presented for the examinations of the new University in 1918 under the Faculties of Arts and Science. The College had the departments of English, Sanskrit, Philosophy and Logic, History and Economics, Mathematics, Physics, Chemistry, Biology and Religion in the year 1917, and it had 400 students on its rolls in 1918. The number of students continued to increase, and at the close of the third year, April 1920, there were 1109 students on the rolls of the College. The number of teachers, too, increased and separate departments were created for History and Economics. Till August 1921, the Central Hindu College continued to occupy the grounds and buildings at Kamachha in the city. On the completion of the present building in the new campus, gifted by the Maharaja of Banaras, at Nagwa, now named Malaviyanagar, and on its formal opening by the then Prince of Wales, later King Edward VIII, the College moved

to its habitation here. The new home of the Central Hindu College had then cost the University over rupees four lakhs.

As a constituent unit of the Banaras Hindu University, the Central Hindu College did not lose its old moorings. Under the fostering care of Mahamana Malaviyaji who was the living embodiment of all that was great and glorious in Hindu culture, religious instruction received fresh impetus. Apart from the regular classes, *Kathas* were delivered on *Ekadasis* and religious festivals were celebrated. Later, *Gita* sermons became a popular feature every Sunday morning, and sometimes Malaviyaji himself recited *Kathas* or spoke on the *Gita* for the edification of the staff and students of the University.

The idea of promoting among students a sense of patriotism got further fillip under the inspiring guidance of Panditji, and our students, therefore, gave a good account of themselves in the movements initiated by Mahatma Gandhi. Today, an alien government is no more to curb and crush our patriotic fervour, and it is a matter of immense gratification and joy to us that some of our *alumni*, such as Shri Sri Prakasa, Sri Jagjivan Ram, Chief Justice Malik, Justice Shanker Sharan, Justice P. N. Sapru, Thakur Har Govind Singh, Choudhary Girdhari Lal, Sri Vicitra Narain Sharma, Shri A. G. Kher, Apurva K. Chanda, Shri Chandra Bhal, Shri R. K. Patil, Srimati Durga Bai, to name only a few, are adorning exalted and responsible offices in our national governments.

The cultivation of sciences and the development of technological education were among the aims of the Central Hindu College. In 1905, it had the honour of a visit by King George V and Queen Mary, then Prince and Princess of Wales. The following year, 1906, saw the establishment of the Prince of Wales Technological Institute, but unfortunately it could not make much progress owing to paucity of funds. With the inauguration of the Hindu University, however, the Department of Science and Technology of the Central Hindu College began to grow rapidly. Liberal grants were made for equipping up-to-date libraries and laboratories in Physics, Chemistry, Zoology, Botany and Geology. The departments of Industrial Chemistry and Mining and Metallurgy, which were the first of their kind in the country were also started.

For a number of years all these departments formed part of the Central Hindu College, and were under the control of its scholar-Principal, Dr. A. B. Dhruva. But due to their expansion it became difficult for the same

head to direct and supervise the work of all the Arts and Science departments. Accordingly, the latter were transferred to a newly constituted College of Science in September, 1935, and a separate College of Technology was also established. The Intermediate classes were sent back to Kamachha in July 1949, and housed in the old Central Hindu College building. Since 1950, a new College of Indology, too, has come into being, and it consists of the Post-graduate classes of our Departments of Sanskrit, Pali and Prakrit, Indian Religion and Philosophy, and Ancient Indian History and Culture. It is, no doubt, true that the constitution of the new Colleges of Science, Technology and Mining and Metallurgy was a historical necessity, but we must frankly say that we have not yet quite reconciled ourselves to the partition of other units, as it has to some extent circumscribed our legitimate scope of work and activity. All the same we wish good luck to all our issues, who desire to live under separate roofs, and while doing so we hope the Central Hindu College with its long history and high traditions will ever proudly remain the Central Hindu College and will not allow itself to be called merely the Arts College.

Since the Central Hindu College became one of the constituents of the Banaras Hindu University, there has been considerable progress in the number of students, staff, departments of studies, and extra-curricular activities. The total number of students, including those belonging to the Diploma courses, is 2455. Our Staff now consists of 7 Professors, 14 Readers, and 50 Lecturers, and is highly qualified. The Heads of the various Departments are all such scholars as have distinguished themselves in their particular branches of learning. The departments now under the College are those of English and Modern European Languages (French and German), Philosophy and Psychology, Economics, Commerce, History, Politics, Hindi, Mathematics, Religion, the degree sections of the departments of Sanskrit and Ancient Indian History and Culture, Persian and Arabic and Urdu, Modern Indian Languages (Marathi, Bengali, Nepali), Chinese, and Indo-Sumerian Studies. The Central Hindu College is still responsible for the teaching of languages, Religion, and Mathematics to the students of the College of Science. We have also recently started Diploma courses in Statistics. Arrangements may soon be made for the teaching of Italian, Russian and Japanese languages also. The College prepares students for the B.A., M.A., Ph.D., D.Litt., B.Com., M.Com., D.Com., and the Foreign Languages Diploma Examinations of the Banaras Hindu University under the Faculty of Arts. Each department has its own Association for the promotion of research, to which we attach great importance. Finances

permitting, it is proposed to institute at least two Research Fellowships in each department.

We believe in the old adage: "A sound mind in a sound body". Accordingly, we encourage games of all kinds, and it is due to our enthusiasm for sports that the Central Hindu College has sometime been described as the "Games College". We run a number of Tournaments associated with great names in the annals of the College : the Kalidas Manik Memorial Football Shield Tournament, the Seshadri Hockey Shield Tournament, and the Dhurva Cricket Shield Tournament. Besides, there are a number of trophies for Inter-class Tournaments; Dr. Shyama Charan De Shield for Football, Professor P. K. Dutt Cup for Hockey, Dr. Ganesh Prasad Pillar for Cricket, Prof. P. B. Adhikari Cup for Volley-ball, and a number of Trophies for Tennis too. Many of our students have won University "Blues" and Championships. Our success in sports is largely due to the energetic interest taken by my esteemed colleagues, Prof. S. L. Dar and Prof. S. C. Das Gupta, who have been for the last several years the very soul of the Athletic Association. A good number of our students has also joined the National Cadet Corps to learn drilling and other military exercises, and I am informed by my friend Prof. S. L. Dar, who holds the rank of "Major" in the N.C.C., that our students are well spoken of for their smartness and sense of discipline. Our students are indeed a good lot, and I am happy to say that I have never been troubled by any problem of discipline. Both in and outside the College our students have behaved with proper dignity and decorum.

I am afraid I have overstepped the limits of my time, and I must, therefore, close. With the celebration of the Golden Jubilee, the Central Hindu College has reached an important milestone in its growth and progress. It is an occasion not only for jubilation, but for stock-taking and self-examination as well. I have already referred to its modest beginnings, its high ideals, and its noble achievements. It has been a great centre for intellectual development and moral refinement. May I pray and hope that in future, too, it will remain, like the emblem of our crest—the lotus—an object of attraction and beauty in the pellucid pool of the Banaras Hindu University, diffusing sweetness and fragrance all around.

MAHAMANA PANDIT MADAN MOHAN MALAVIYA

Prof. B. L. Sahney,

Banaras Hindu University.

Mahamana Pandit Madan Mohan Malaviya was an embodiment of perfect, all-round purity, purity, that is, of the body and its actions, purity of the mind and its operations, purity of the soul and its aspirations, purity in thought, word, and deed. He had the purest Aryan features, a well-turned frame, fair in complexion, and he was always dressed in a simple robe of spotless white. And in character he was a model in modern times of what the Brahman in ancient Indian aspired to be. This immaculate purity of the man seems to have been an inborn quality, the blossom of past 'sanskaras', and not the result of any fierce struggle within him, though it was, of course, consummated by his inexorable sense of duty and his love of all that gives life its worth, value, dignity, and distinction. And it was not confined to his own personality; it went out of him, pervaded the whole environment round him, and profoundly influenced everybody who came within his range, lighting up the whole atmosphere with peace, love, joy, harmony, odour,

"or the soul of all,
Which from heaven like dew doth fall".

And the orbit of his personality was not limited by any narrow bounds of locality or activity: it embraced the whole of our vast country and its life in all its varied aspects. Though he was an orthodox Brahmin, his love knew no distinctions between the high-caste and the Harijan, between the Hindu and the Muslim, between the Indian and the alien. He longed to serve all alike irrespective of differences in caste or colour, creed or community. He was the emancipated Soul of humanity, embracing all within the folds of his love and affection.

He was an ardent lover of liberty and refused to put up with slavery in any shape or form. And liberty was for him no mere sentimental and vociferous slogan but the essential law of human life, without which men are void of all sense of moral responsibility and no better than beasts of the field or fowls of the air. It was for him not the negation but the sublimation of law and discipline, that law which has a social and spiritual sanction

and that discipline which is the foundation of all fruitful activity. And he did his utmost to restore liberty not only in the domain of politics but also in every other department of life with equal and unabated fervour. And he believed in the sovereign need of independance not only for India but also for every other country groaning under the heel of foreign oppression. Nor was his conception of independance narrow and restricted in any respect whatever. He did not believe in national isolationism which is always the outcome of morbid psychological complexes on a vast scale and which never fails to lead to conflicts destructive of the peace and prosperity of mankind. On the contrary, he had a firm faith in the principle of co-operation among nations on the basis of equality and for the purpose of universal welfare, so that all the diverse peoples, living on this globe of ours, should march forward in perfect goodwill and amity towards 'that far-off divine event to which the whole creation moves', towards that Beauty to which

> 'Now touching goal, now backward hurled,
> Toils the indomitable world'.

There is hardly any movement of reform in modern India to which the Mahamana has not contributed in an enviable measure, so that his life, dealt with in detail, will be found to contain an epitome, and abstract, or rather an epic of the life of our country to-day. The freedom which we have won is in no small measure due to his Herculean and incessant efforts. He is not in our midst to-day but his soul is alive, operating through those many heroic minds who are now shaping the destiny of our country to glorious issues; for men who are now at the helm of affairs owe a good deal of their genius and capacity for work to the inspiring influence of the great Pandit. August souls serve the cause to which they are dedicated not only when they are present in flesh and blood among us but also, nay, even more, when they have departed from the bourne of Time and Place and have gone back to the Imperial Palace whence they came.

He believed in the fatherhood of God, the brotherhood of man, and the essential unity and sanctity of all life. His faith in God was, indeed, unique in its intensity. It was this which made him a modern Rishi who could behold in a mood of rapt contemplation the Mountain Source from which issues the tumultuous torrent of time. His faith in the brotherhood of man was unique in its firmness. It was this which made him a Patriot, pure and just, and the Friend of Humankind, who,

> "untainted by Corruption's bowl
> Or foul Ambition, with undaunted soul",

spoke the language of a free-born mind, pleading the cause of Nature, and invariably pursued the path of Honour in sunshine and in storm alike. All men were in his eyes manifestations of the Divine. And his realisation of the basic oneness of life gave him an unerring insight into all problems, even those which baffle the acutest minds. He was not a lop-sided genius but a harmonious, well-balanced personality, whose body was an efficient instrument of his mind, whose mind was the faithful servant of his will, and whose will was strong, upright, in tune with the will of God. If he had cared for mere wordly success and prosperity he could have easily amassed millions and lived a life of ease, comfort, and luxury, with honorific titles into the bargain, for, as is known to everybody, he was an eminent lawyer practising in the High Court at Allahabad, but he preferred a life of service and sacrifice and refused to prostitute his talents to the multiplication of loaves and fishes. He disdained to sell his soul for a mess of pottage or to barter his mind for a handful of silver or a riband to stick in his coat. With his passionate dedication to the Supreme, his devotion to the Motherland, his love of every form of life, his nobility of mind, his purity of purpose, his sanctity of soul, his sweetness of disposition, and his perfect immunity from every species of cant and affectation, the Mahamana will long continue to haunt our minds. I may say of him what Lamb has said of Coleridge: "Never saw I his likeness, nor probably the world can see again".

I have already said that to deal in detail with the life and work of the Mahamana is in a sense to deal with the multitudinous life of modern India. It must be noted, however, that he was particularly devoted to the cause of education, for he was firmly convinced, and rightly too, that education was the corner-stone of every kind of progress. He was one of the greatest educationists India has ever had. The Banaras Hindu University, the outcome of his endeavours, is a glorious testimony to his genius and zeal for education. Sectarian merely in name, it has been the home of Indian nationalism and the capital of revolt against that alien rule whose death-pangs, which we witnessed only the other day, were precipitated by the heroic sacrifices of our young men who drew their inspiration from the life of its illustrious Founder. It bids fair to become, if, indeed, it has not already done so, the noblest shrine of ancient and modern learning in Asia.

An intellectual power of rigorous logic and rare discernment, a moral force of matchless persuasion, a spiritual influence of the purest ray serene, the Mahamana was an oracle of inspired wisdom whenever he opened his

lips to address huge audiences eager to hear him on important public occasions. He was one of the greatest speakers of his day. He could hold his hearers spell-bound for hours without end. And his marvellous power of public eloquence was not something assiduously cultivated or painfully acquired. It was spontaneous. It came to him as naturally as leaves come to a tree in spring. He did not depend on any studied delivery, any verbal jugglery, any memorised fluency, any borrowed vocabulary, any gorgeous and inane phraseology, any mechanical manipulation of the vocal or dental apparatus. Nor did he strike any histrionic poses or use any spectacular gestures. He spoke invariably with perfect ease, now in one key, now in another, as the mood dictated or the thought required, rising and falling with his subject, and in consummate consonance with the occasion, till, after having dealt exhaustively with his theme in a most luminous vein, he would end in a glorious peroration, when the audience would rise, look at each other with eyes, aglow with joy, and remark: "We have fed to-day verily on honey-dew and drunk the milk of paradise".

Without any unnatural striving after art, he was yet the greatest artist I have known; for he could play with consummate skill and grace upon the whole gamut of human emotions and evoke all possible sentiments in the hearts of men. He could depict the life of nature and the social scene in clear, vivid, and glowing hues. He could open the gates of horror and thrilling fears as well as the sacred source of sympathetic tears. He could move his audience to gentle smiles as well as to 'Laughter holding both his sides' or uproarious mirth. He could unlock the gates of joy, unseal the source of bliss. He could inspire men to heroic endeavour and so compose their souls as to render them impervious to the insignificant sound and fury, din and dust, of existence, free from all the fret, the fever, and the weariness of life.

He was essentially poetic in nature. He had a strong sense of rhythm. He was extremely fond of music. He was an intensely sensitive soul, so much so, indeed, that his eyes were often bedewed with tears by the very excess of his emotional reactions to such incidents and situations in life as arouse our sense of pity. Few men, indeed, have ever been more accessible to the tender emotions and to the pathos of life. He had an almost infallible instinct and an impeccable tact in the matter of expression or style. He was a lover of every variety of beauty, sensuous, intellectual, moral, and spiritual. He was highly imaginative. He had the vital soul; he had an abundance of general truths; he had an extraordinary capacity for

their application to the concrete situations of life; and he had plenty of forms and images, drawn from experience, to embody his delicate conceptions and visions into sensuous loveliness,

> "To clothe in perdurable pride
> Beauty his transient eyes described".

He was immensely fond of poetry; and his mind was a veritable treasure-house of the finest passages found not only in our own classical poetry, both in Sanskrit and in Hindi, but also in English poetry, particularly in Shakespeare, Milton, the great Romantics like Wordsworth, Shelley, and Keats, and the eminent victorians like Tennyson and Browning. And what is little known even to his own countrymen is the fact that he was himself a poet in his early years and composed verses in Hindi, expressive of moods of gaiety and gravity alike. And he had two pen-names, one, namely, 'Makarand' for use in the expression of serious moods and the other, namely, 'Bhakkar Singh', for moods of humour and light-hearted banter and raillery. Thus he was born a poet but politics claimed him and he responded, because he felt that it was impossible for the spirit of poetry to thrive in a slave country. Not to talk of poetry, the late Lokamanya B. G. Tilak believed that in a slave country in was impossible even for such an abstract and innocent subject as Mathematics to be pursued unhampered. And he was right; for liberty is the *sine qua non*, the indispensable condition for progress of every kind.

The Mahamana was the silver tongue of India's mystic soul, the trumpet of truth, and the mouthpiece of the Divine. And yet he was humble, meek, and mild, full of the milk of human kindness, a good word always trembling on his lips, brimful of genuine sympathy for all men, high or low, rich or poor, in their joys and sorrows alike. Is there a famine in any corner of the country? He was the foremost to organise relief. Is there a slaughter of the innocents anywhere in India, such, for instance, as was perpetrated in Jallianwala Bagh at Amritsar? He was the earliest to visit the scene of woe, and his very presence acted as a healing power, gave a new life to the down-trodden, and inspired a strange confidence in their lacerated hearts; for, though he was an incarnation of pity, pathos, and compassion, he was never unnerved by any calamity, however colossal. He was a sturdy optimist who was never dismayed by the giant agony of the world. To use the well-known words of Browning, he was

> "One who never turned his back but marched breast forward,
> Never doubted clouds would break,

Never dreamed, though right were worsted, wrong would triumph,
Held we fall to rise, are baffled to fight better,
Sleep to wake."

His courage was equal to his compassion. The gentlest of souls, the finest blossom of culture and refinement, urbanity and elegance, courtesy and politeness, he was a man who never uttered a harsh word even to his worst opponents. A man more considerate of the feelings of others is, indeed, hard to find. And yet he knew not what fear was, and spoke the truth without any mincing, mystification, or reserve, and did so often at a time when the air was hushed with beaurocratic persecution and oppression and when every other voice was buried in the stillness of prison cells. He would not flatter even the mightiest, nor seek for personal power 'by doctrines fashioned to the varying hour'.

And he showed the courage of his convictions on numerous occasions. A single instance should suffice here. It is mentioned by the Prime Minister in his *Auto-biography*. In the month of January in 1924, which was the year of *Kumbh* or *Ardh-Kumbh*, when millions of our countrymen take a dip in the holy waters of the *Tribeni* at Allahabad, the Government had prohibited the pilgrims from taking their bath, alleging that it was dangerous to do so, since the river was then uncertain in its current and might change its course at any moment and thus occasion an enormous loss of life. With certain precautions the danger could certainly have been avoided or at least considerably minimised, but, as usual, the Government set about its task in the most graceless and exasperating manner possible. A tremendous barrier was erected to keep away people ; police constables, both on foot and on horseback were posted in large numbers ; even regular cavalry was stationed. The Mahamana wrote to the District Magistrate for permission to bathe, which was refused. He decided to offer satyagraha and, followed by about two hundred volunteers, he marched towards the confluence of the rivers. They were, as was but expected, stopped by the police, and, being non-violent satyagrahis, they sat down on the sands near the barrier and there remained for the whole morning and part of the after-noon, determined to hold their ground, however furiously the troopers might charge. "Suddenly, without a hint to any one, Panditji dives", writes the Prime Minister, "in the most extraordinary way through the policemen and the horses. For any one that would have been a surprising dive, but for an old and physically weak person like Malaviyaji it was astounding".

One thing very remarkable about the Mahamana was his amazing capacity for resolving all kinds of contradictions into a harmonious whole. He combined in his character the imperturbable equipoise and composure of the East with the dynamic and aggressive qualities of the West, the visionary idealism of our ancient Rishis with the pragmatic realism of modern minds. His Hinduism was of the purest type and was never permitted by his unerring sense of what is right to deteriorate into communal bigotry; his patriotism was never allowed to decline into jingoism; his nationalism was never suffered to degenerate into exclusivism and racial arrogance; and he was never tired of repeating what is unfortunately often lost sight of in our days, namely, that the lower invariably finds its legitimate fulfilment in the higher.

He was at times, it is true, suspected of communalism. In her *Testament of India*, for instance, Ela Sen accuses him of 'orthodoxy and conservatism', or 'intolerance and exclusiveness', of 'innate sectarianism', saying that "The charge of communalism lies heavy on Madan Mohan Malaviya". To accusations of this kind Mahtama Gandhi, writing on Pandit Ji in the *Young India* of 19th May, 1924, has replied once for all. He says, "I have had the privilege of the closest communion with him. I regard him as one of the best among the Hindus, who, though orthodox, holds most liberal views. He is no enemy of Mussalamans. He has a heart large enough to accommodate even his enemies."

Ela Sen goes even to the extent of saying that the Mahamana 'never wished for the severance of the British connection, but desired to attain certain liberties under British rule'. It is, however, extremely gratifying to find an emphatic refutation in the *Autobiography* of the Prime Minister. Writing on the Mahamana, he says, "The sole change he desires, and desires passionately, is the complete elimination of foreign control in India."

Leaving apart a few Muslim fanatics and a few ultra-moderns, the Mahamana was a *persona grata* with almost all sections of society, respected alike by the Government, the Indian Princes, and the people. "A man he was to all the country dear." Next to Mahtama Gandhi, he was the most popular and honoured leader of our country. Often enough, to be sure, popularity is no test of merit, but in the case of Panditji it was solely due to sterling qualities of character. The unique power and prestige he had both with the intelligentsia and the masses were due to a long period of unbroken service of the Motherland, such as very few among our leaders can boast of. He was the Nestor of Indian politics. He served the cause of social re-

generation, of economic development, of educational advancement, and of religious reformation. He founded journals both in Hindi and in English and thereby promoted the growth of public intelligence and periodical literature. He started several charitable institutions and volunteer organisations which are doing excellent philanthropic work and social service in the country to-day. He founded the Hindu Mahasabha and did so with the noblest of motives, namely, that of purifying 'the Hindu part of the national body' and not for opposing the interests of the Muslims. He founded the Nationalist Party. He was one of the founders of the All-India National Congress and all through his long life he remained a Congressite in spite of revolutionary changes in its creed, policy, and its technique of opposition to the Government, though by reason of his essentially classical temper of mind he did not readily countenance extreme measures and preciptious movements. He was the apostle of moderation, not that kind of moderation which is born of low vitality, tempermental timidity, and selfish solicitude, but that which is the outcome of a delicate, intuitive balancing of all the highest values of life, which is the proof of wisdom and is 'true to the kindred points of heaven and home', and which leads to adequate fulfilment of all the ends of human endeavour, such as *kama*, *artha*, *dharma*, and *moksha*. He was the apostle, in other words, of that Golden Meàn which is the meeting-point of all iron extremes. Born and brought up at Allahabad where the waters of the Ganges, the Jamuna, and the Saraswati meet and flow in a single current, he had instinctively learnt from this sacred phenomenon of Nature the supreme art, the art of spiritual alchemy, till he had himself become the confluence of the supreme triad of values, the True, the Beautiful, and the Good. He was an embodiment of self-knowledge, self-reverence, self-control, which alone lead life to sovereign power.

He was the champion of the poor. He pleaded passionately for the abolition of untouchability, the plaguespot on the body politic of our fair country. He pleaded passionately for compassion to dumb and innocent animals, so mercilessly slaughtered in our Stupidity Streets for the stomach of cultured cannibals, even though Nature has bestowed the fruits of her unlimited fecundity so bountifully on ingrate and unregenerate man. He was the indefatigable advocate of *Swadeshi*, *Swadhinta*, and *Swaraj*. Little wonder, therefore, that he became one of the Makers of Modern India. And, above all, he was the pillar of the Perennial Faith, the Sanatana Dharma, which the ancient saints and sages of our country promulgated for the salvation of mankind; and the people rightly conferred on him the exalted

appellations of the 'Dharmatma' and the 'Mahamana'. Nor must we forget that, though he valiantly opposed all reactionary and oppressive measures of the Beaurocracy, he was essentially a man of peace and often strove to bridge the widening gulf between the Government and the Congress which has always symbolised the aspirations of the people. And the peace that he prized was the genuine article, not some spurious substitute for the same. He never mistook mere cowardly acquiescence or slothful and sluggish acceptance for peace. And he would not purchase at the cost of honour, integrity, or allegiance to God. He valued not the peace of the grave but of the life everlasting, the intrinsic peace of the soul, which we win by victory over sin and shame, ambition, anger and avarice, envy and pride, which are its deadliest enemies dwelling within our own bosoms. He was, in fine, one of those great men who are the commissioned guides of mankind, who remain unruffled in the midst of storms and fearless in the midst of frowns, and who rule their fellows because they are nobler and wiser; one of those

"Who still preserve from chance control
The fortress of their 'stablisht soul;
In all things seek to see the whole;
Brook no disguise;
And set their heart upon the goal,
Not on the prize;
Who seem not to complete or strive,
Yet with the foremost still arrive,
Prevailing still:
The Elect with whom the stars connive
To work their will"

STRUCTURAL EVOLUTION OF THE INDIAN SOCIETY

DR. R. B. PANDEY
Banaras Hindu University.

1. *What is Society?*

Before we trace the evolution of the Indian Society it seems necessary to have a precise idea of what we exactly mean by 'society'. Society is a human organization effected through human efforts for the fulfilment of certain ends of life. Human beings, who are by nature social, express their nature by creating and recreating an organization which guides and controls their behaviour in numerous ways. This organization liberates and limits the activities of men, sets up standards for them to follow and to maintain. There is no doubt that society has had a number of imperfections and it has exhibited tyrannies in human history. But it is absolutely beyond doubt that society is an essential instrument of every fulfilment of life. It is a system of usages and procedures, of authority and mutual aid, of many groupings and divisions, of controls of human behaviour and of liberties. This ever-changing complex system we call society. It is the web of human relationship, which has been perpetually woven out of the old into the new. It is in this sense that society, like humanity, is ever-living, and therefore, everlasting or *sanātana*.

2. *Indian Society has always been changing.*

The Indian society as we have it to-day is the result of a long and continuous process of progression and conservation, reforms and reactions, modifications, changes, alterations and transformation. Historically it is incorrect to think that it has been static throughout its career. There are ample evidences to show that it has been reacting and adjusting itself to the changing circumstances through its long history. In this paper it is proposed to review briefly the main changing and evolutionary stages of the Indian society.

3. *Earliest Society.*

We have no clear picture of the earliest form of the Indian society. Our knowledge of the dim and vague picture of the primitive Indian society is based upon anthropological considerations and the survivals of primitive culture in the contemporary backward tribes. It must be confessed that sociologically it may be correct but historically it is inaccurate.

By the close of the neolithic age the tendency for stable divisions of the people into regional, ethnic, tribal, and professional groups and communities became more or less definite. This primitive society did not apparently pass through a horizontal but a vertical process of progress. A pastoral section would permanently remain pastoral ; the hunting groups and communities would remain as such ; the agriculturist groups tended to remain as such ; the agriculturist groups tended to remain agriculturist ; and a section of the people which had become industrial would have remained industrial and so on. Instead of the whole society passing through all the stages of evolution, different sections of it would be permanently under the different stages of progress. Vast distances between different regions in India and the lack of communication were, to a large extent, responsible for this process. But the ethnic differences between the Aryans, the Dravidians, the Śabara-Pulindas, the Kirātas, the Asuras, the Daitya-Dānavas, the Ṛkṣa-Vānaras, the Rākṣasas and other racial elements also contributed substantially to the rise of the original communities in India.

Shri P. T. Srinivasa Ayangar was of the opinion that the five geographical divisions of the *neydal* (coastal), *marudam* (agricultural), *mullai* (pastoral), *kurunji* (hilly) ,and *palai* (desert) referred to in the Tamil literature must have been formed in the neolithic period. He sees even in the Vedic *pañcha-janāḥ* (five peoples) and *pañcha-Kṛṣṭayaḥ* (five agricultural and industrial groups) a reference to this five-fold divisions of society. Our difficulty in this connection, however, is that we cannot say what was the language of the neolithians ; nor the identification of the *pañcha-janāḥ* (Five Vedic Tribes) with the five regional communities is certain.

The tendency of the neolithians for specialisation into the peoples of the coasts, lakes, forests, hills, deserts and agricultural areas was originally and mainly instrumental in the inspiring and fostering of that system of social groups and sub-groups, separated from one another by elaborate restrictions regarding marriage and interdining etc. which is known as caste or '*Jāti*'. Some scholars wrongly hold that caste-system is a later Brahmanical institution superimposed by the Aryans on the conquered communities. In fact, if we can judge from what is taking place every day before us, the caste instinct seems to have been more developed among the non-Aryan communities of the population than among the upper-class Hindu communities which mostly represent the Aryan race and Brahminism.

The communities of the neolithic age were the areas of social living marked by some degrees of social coherence. In this period a number

of social groups within communities came into existence. A race would become divided into tribes; each tribe into a number of social groups on account of natural and conventional factors. These factors pertained to sex, age, kinship, common interest, and common beliefs. There was no doubt that there was a tendency towards social coherence during the neolithic period, but there was no well-knit and compact society. So far social development was slow and unconscious. Conscious attempt was feeble and there was no clear thinking in the structural development of the society.

4. *Vedic Period.*

With the advent of the Vedic age, when literature just appears on the horizon of Indian history, we come across the thinking process in the formation of human society. Innumerable regional, ethnic, and professional castes of the neolithic period must have presented a chaotic scene to the thinkers of the Vedic age. The concept of society required more coherence, simplification and systematisation. The questions were raised and answered regarding the origin of society and its various groups. This process led to the social transition from caste (*jāti*: birth) to *varṇa* (or conscious and discriminate selection of one's profession in life). The former was natural and unconscious, the latter was ideological and conscious.

The *Puruṣa-Sūkta* in the Ṛgveda was a conscious attempt at the explanation of the origin of social groups and at the regulation of their functions. According to this hymn the *Virāta Puruṣa* (Cosmic man) symbolised the entire universe inclusing the whole humanity; the *Brāhmaṇa Varṇa* originated from the mouth of this Cosmie Man, the *Rājanya* (=later *Kṣattriya*) from his arms, the *Vaiśya* from His thighs and the *Śudra* from His feet. The mouth is the seat of speech; the *Brāhmaṇa*, therefore, was created to be the teacher and instructor of mankind. The arms are the seat of valour and strength; the *Kṣattriya* was created to protect the world. Thighs are the supports of the body; the *Vaiśya*, therefore was created to sustain the world materially. The feet form the basis of the body; the toiling section of the society the *Śudra* has to supply labour for the very foundation of the body social. In this hymn, in the form of an allegory, the society is conceived as an organism and different groups within it are conceived as its limbs functioning in their respective spheres in the interest of the society as a whole. In other words, the society is divided into four social classes on the principle of the division of labour. Here there is no reference to any regional or ethnic factor as the basis of social

organization. The classification of classes in the society is purely functional, irrespective of the origin of their constituents.

In the Vedic period the *Varṇa* system was not based upon the incidence of birth nor was it a rigid and fixed institution. The *Varṇas* were just like classes and in a fluid condition. In the same family persons belonging to different *Varṇas* lived together. A Brāhmaṇa Ṛsi says, "I am a poet; my father is a physician; my mother a grinder of corn. With our different views ,seeking after gain, we run as after cattle". The Ṛbhus were skillful artisans, and yet they were given high divine honours. Some of the descendants of the Bhārgava were famous makers of chariots. Heredity was not a decisive factor in determining the occupation of an individual. As regards social intercourse it was free among the four *Varṇas*. There appears to be no restriction regarding common dining and intermarriage between different *Varṇas*. Several intermarriages happened during the Ṛgvedic period and were recorded in the later literature, for instance, the marriage of Yayāti and Devayāni and Duṣyanta and Śakuntalā. These are the instances of the marriages between the Kṣattriya husbands and the Brahman wives. There are also instances of marriage between the Brahamans and the Kṣattriyas. Ṛsi Syāvāsva married the daughter of the Ksattriya king Rathavīti, Ṛsi Kākṣivān married the daughters of king Śvanaya. The instances of the marriage between the first two *varnas* and the last two are not found in the early Vedic period, though there is nothing in the contemporary literature to preclude this possibility.

5. Later Vedic Period.

During the later Vedic period society was horizontally divided into four *Varṇas* and vertically into four *Aśramas*. These twin institutions regulated the entire social and individual behaviours of the members of society. The *Brāhmaṇas* occupied themselves as teachers, preceptors, hermits, preists and ministers; the *Kṣattriyas* were engaged as rulers, administrators and soldiers; the *Vaiśyas* as agriculturists, industrialists and traders; and the *Śūdras* labourers and domestic servants.

Theoretically this organic conception of soceity was an ideal one and it inspired and fostered the unity of humanity. But in course of time heredity, race, and professional interest conspired against this concept and system. *Varṇa* degenerated into *Jāti* (caste) and birth began to determine the career of an individual. The doctrines of *Svakarma* and *Svadharma*, which were essentially personal, were wrongly applied to the social groups based upon heredity. The philosophical concepts of *Atman*

and *Brahman*, which could have been made the solid basis of human relationship, ignored social differences and inequities instead of removing them. A gradual increase in the distinction between the different *Varṇas* in terms of different rights and privileges is noticeable as we pass on from the early Vedic literature to the Brahmanic literature of the later Vedic period.

6. *Aryan Expansion and Complexities.*

There was a circumstantial factor which led to the rise of gradual distinction and separation between *Varṇa* and *Varṇa* and caste and caste. In the beginning the *Śudra* was ethnically and culturally the part and parcel of the Aryan society, and, therefore, similar to the other three *Varṇas* in complexion, food, and marriage. Consequently he could not be sharply distinguished from the other three *Varṇas*. As regards the first three *Varṇas*, except their professions, there was no other distinction. Later on during the expansion of the Aryans from *Āryāvarta* (Northern India) to the other parts of the country the non-Aryan element was increasingly admitted into the Aryan society. The upper strata of the non-Aryans were assimilated into the first three *Varṇas*, but the majority of them was classed under the *Śūdra Varṇa*. Sharp ethnic differences in complexion and features and cultural divergences were responsible for restricting the *Śūdras* from free social intercourse with the upper three *Varṇas* and for the fall of the *Śūdras* in their status. Though in comparison with the policies of extinction and enslavement followed by the modern European races in Amercia, Africa, and Australia the Aryan treatment with the non-Aryans in India was more human and liberal, as the *Śūdras* were assigned a definite place within the fold of Aryan society though under certain social disabilities. But from a socially moral standard it was discriminative and halting. When once the *Śūdras* were distinguished from the first three *Varṇas*, the process did not stop there. The tendency to separate one *Varṇa* from the other gained currency. The caste system once more raised its head and began to encroach upon the precincts of the *Varṇa* system. In the social history of India, since then, there has been a continuous struggle between the principles of *Varṇa* and Jāti (caste).

In spite of growing rigidity in the structure of society, the change of profession, inter-dining, and intermarriage were still permissible, which kept the society flexible and moving. But it is true that confusion had been increasing regarding the nature of *Varṇa* and its place in life. By the end of the Vedic period, at the close of the *Dvāpara-yuga*, an age of *dvandva* and *dvaidhibhāva* (conflict and contradiction), on the eve of

Kaliyuga and just before the Mahabhārata War there was a great deal of social complications and mal-adjustment which invited the attention of the social thinkers and reformers.

7. *The Epic Age.*

In the Mahābharata various attempts at the re-statement and the re-interpretation of the social structure with a view to reform it are found. In one of the statements it is said that there were no distinct *Varṇas* in the *Kṛta-yuga*. In another statement Bhṛgu says, that only a few *Brāhmaṇas* were first created, the other *Varṇas* were created later out of the *Brāhmaṇas*. The complexion of the *Brāhmaṇa* was white (*sita*) that of the *Kṣattriya* red (*lohita*), that of the *Vaiśya* yellow (*pitaka*) and that of the *Śūdra* black (*asita*). Commenting upon this Nīlakaṇtha writes, "*Varṇas* are either dominated by *satva* (knowledge and purity), *raja* (energy and activity), *tama* (intertia and lack of initiative) or mixed (*miśra*). White (*sita*) symbolises *sattva*; red (*lohita*) *raja*: yellow (*pitaka*) *raja-tama* and black (*asita*) *tama*. When questioned about the immense varieties of complexions and castes Bhṛgu further elaborates his theory :

"Created equally by Brahman, men have, on account of their acts, been divided into various *Varṇas*. They who found excessive pleasure in enjoyment, became possessed of the attributes of harshness and anger; endowed with courage and unmindful of their own *dharma*, those *Dvijas* possessing the quality of redness (*raktangās*) became *Kṣattriyas*. Those again, who unmindful of the duties laid down for them became endowed with both the qualities of redness and darkness and followed the occupations of cattle-breeding and agriculture, became *Vaiśyas*. Those *Dvijas* again, who were given to untruth and injuring other creatures, possessed of cupidity (*lubdhas*), who followed all sorts of occupations for their maintenance (*sarva-karmopajivinaḥ*), who have no purity of behaviour (*śaucha-paribhraṣṭas*), and who thus nursed within them the quality of darkness (*asita*) became *Śūdras*......Divided by these occupation, the *Dvijas*, due to falling away from the duties of their own order, became members of the other three *Varṇas*. All the four *Varṇas*, therefore, always possess the right to perform all the *Dharma* and *Yajña* duties".

From the statements of Bhṛgu it is clear that he seeks the psychological and moral basis of the four *Varṇas* and throws open the right of *dharma* and *yajña* to all of them. By implication he suggests that every *Varṇa* should try for its restoration to the status of the *Brāhmaṇa Varṇa*.

8. The Gitā Synthesis.

In the Gitā Śrikṛiṣṇa made the most scientific and outstanding statement on the organization of the social structure. As a matter of fact Krisṇa defined and interpreted almost all philosophical, religious and social concepts and institutions. He maintained that the world consists of four *Varṇas*, but according to him *Varṇa* was based upon *guṇa* and *karma*, that is upon the psychological and biological apparatus of men. The *guṇas* were regarded as the spcyho-moral basis of the *Varṇa* organization. On the basis of the *guṇa*-theory Krisṇa elaborates the functions and qualities of the four Varṇas. He does not make any reference to race, birth, and caste as the basis of social organization. He also does not suggest that there was any moral fall in the occupations of the lower three *Varṇas*. Rather, he lays down that by performance of one's own social duties, assigned to an individual, one realises the ultimate goal of life. The key-note of the individual's relationship with society and the ultimate reality which supersedes it lies in the sutra-*svabhāva, svadharma and svakarma.* But this concept of *sva* is not tied down to the wheel of hereditary castes.

The pride and inequities of caste or *jāti* are also ridiculed in the *Mahābhārata*. In the *Nahuṣopākhyāna* Yudhiṣṭhira, asked about the nature of *jāti* by Yakṣa, replies to him: "O great serpent of great mind, *jati* should be understood in the sense of humanity (*manuṣyatva*). *Jāti* in the biological sense is difficult to be recognized on account of the mixture of various *Varṇas*. It has been seen that all (male) persons have been procreating children on all (female) ones. Therefore, those, who see the reality of things, are of the opinion that good conduct (*śīla*) alone counts (in human life)'.

9. Materialisitc Reaction.

Reorientation and re-adjustment, which were effected in the social structure during the age of the *Mahābhārata*, lasted for many centuries. But again the forces of conservation, stultification, class pride and prejudice, and professional interests made the society rigid and retrogressive. This state of things led to strong reactions. Many centuries earlier than the rise of Jainism and Buddhism, many schools of materialistic, sceptic and nihilistic philosophy came into existence, which challenged the religious and philosophical sanction behind the social structure and tried to build society purely on material and sensuous basis. It seems that these schools were mostly destructive and they were not able to give a new social philosophy for the reconstruction of society in the place of the old one. That is why

they could not take roots in the country and they are known only through their criticisms preserved in the works of their opponents which had better vitality to serve the society and, therefore, to survive. All the same the old social system required a shake-up and a reformation.

10. Buddhist Reformation.

Jainism and Buddhism, though primarily religious and philosophical movements, indirectly influenced the society psychologically. They did not reject the concept of *Varṇa*; rather they wanted to reform it. But they inherently opposed the concept of *Varṇa* based upon heredity. In the Dhammapada Buddha defines a *Brāhmaṇa* in the following words:

> "A Brahmaṇa does not become a Brahmaṇa by matted locks of hair, gotra (clan) and jati (caste); he is a Brahmana and pure in whom reside satya (truth) and dharma (piety)'.[1]

These religious movements shook the society. They loosened the observance of four *Aśramas* in order. They encouraged inter-caste marriages and interdining and thus broke the barriers of social groups. The reformist zeal, however, was not permanent. The pride and rigidity of *Varṇa* and *jāti* very soon returned; they only changed their trenches. Under the old Brahmanical system the order of the social classes started with the *Brāhmaṇa;* the Buddhists and the Jains restored the *Varṇa* system; only they put the *Kṣattriya* at the appex of the social order. The lives of Mahāvīra and Buddha were a challenge to class pride and class interest. But their followers exploited the *Kṣattriya* birth of these leaders of humanity and regarded the *Kṣattriya Varṇa* the highest, because these leaders were born in it. The birth stories of Mahāvīra tell us that this *Tīrthaṅkara* was conceived by a Brāhmaṇi; but she was not worthy of becoming the mother of a *Tīrthaṅkara;* therefore foetus was removed from her womb and placed into that of a *Kṣattriyā*. The merchantile communities of Śreṣṭhis—bankers and traders—appear to have become very important during this period. They seem to be mainly responsible for absorbing the shocks of social revolution by entertaining and controling its leaders and corrupting its rank and file. These leaders uplifted the fallen and the humble but their followers neglected them. The *hīnajatis* and the *hīnasippas* instead of being reclaimed and assimilated in the society were perpetrated. The *Pukkasas*, the *Śvapachas* and the *Chāndālas* were left as *antyajas*, still living beyond the area or the frontier of the civilized society.

[1] न जटाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
यम्हि सच्चञ्च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो ॥

By the time of the fall of the Mauryan empire these reformist movements became a decadent and spent-up force.

11. *Vedic Reaction and Reorganization.*

Even during the hey-day of Jainism and Buddhism, Brāhmaṇism was alive and active. When the former were attacking old traditions, authority and social order the conservative forces of Brāhmaṇism were digging strong shelters in the Sūtras. Under the Śungas, who were followed by the Kāṇvas, the Āndhras, the Vākāṭakas and the Guptas, Brāhmaṇism re-asserted itself and re-organized the social order. The pioneer work was done by the author of the *Manusmṛti* under the Śungas. He recapitulates the Vedic theory of the origin of the four *Varṇas* from the limbs of the Cosime Man and assimilates the Gītā theory of the functions of the four *Varṇas* based upon *guṇas* or the psychological equipment of men. In his introduction to his code he propounds the theory of social evolution from the inanimate objects to the conscious man and regards the *Brāhmaṇa Varṇa* as the highest stage of human evolution. He firmly grasps the *Varṇāśrama* system, but he maintains the principle of division of labour on the basis of psycho-biological apparatus of men as the foundation of the system. He does not admit of any racial or regional discrimination. He, again, strictly adheres to the four-fold division of the entire humanity and does not concede the existence of a fifth *Varṇa*, *pañchama* or *antyaja*.

In the *Manusmṛti* we find a strong reaction against monastic system involving premature retirement from the normal worldly life and leading to corruption and other social maladjustments. There is a definite and strong emphasis on the gradual change of *āśramas* or the stages of life. The life of a householder is extolled and is regarded as the prop of the society and the centre and the venue of all social and religious activities. This emphasis on the dignity of a householder's life went a great way in checking the excessive growth of monastic life. But the reorganization of the horizontal structure of the society by the author of the *Manusmṛti* was halting. He rejected the tribal, ethnic, and regional basis of the Varṇa system in theory, but he could not reconcile himself to the free assimilation of the semi-civilized communities, dark-complexioned tribes, hetero-dox groups and foreign peoples into the orthodox Indian society. He was, therefore, forced to propound a novel and absurd theory of the *Varṇa-saṅkaras* or mixed *Varṇas* arising from the inter-marriages between different Varṇas and consequent mixed castes. The result of this psychological reservation was that the *antyajas*, the *Śudras*, the foreigners (*mlechchhas*) and the non-

conformists remained on the borders of the bulk of the Indian society. Manu, his followers and interpreters failed in casting the entire Indian humanity into the scientific mould of the Varṇa system.

12. Foreign Invasions and New Problems.

When the Śunga counter-reformation of the society was not yet stablized, India was subjected to a series of foreign invasions by the Bactrians, the Parthians, the Scythians, the Kuṣaṇas, etc. Now, two social problems faced the sociologists of India, (1) to determine the place of the foreign tribes in the country and (2) to keep the heterodox elements of population within the fold of orthodox society. As regards the former the Smṛtikaras—mostly the followers of Manu, Yājnavalkya and others—classed them as Vrātya Kṣattriyas. It was partly due to the Puranic traditions that the descendants of Ikṣvāku and Yayāti migrated to central and western Asia and even beyond, partly in view of their fighting and ruling professions and partly due to the universality of nature and hero-worship current in India and acceptable to the foreign invaders. Those of the foreigners, who accepted the frame-work of the Indian society found an easy access to it, though the tendency was to assign them a block in the society instead of their thorough assimilation. So far as the latter were concerned, first they were branded as Vrātyas, Vriṣalas, Śūdras and Saṅkaras, but in course of time they returned to the orthodox society with certain disabilities and the majority of them formed new blocks of communities.

13. The Role of Vaiṣṇavism.

In this process Vaiṣṇavism, specially its Bhāgavata cult, played an important part. It diluted orthodoxy, absorbed the best elements of Buddhism and Jainism, attracted the non-conformist groups to the parent fold and welcomed the foreigners into its commodius circle. This new social synthesis under the aegis of Vaiṣṇavism took place during the Gupta-Vākāṭaka-period, it continued vigorously upto the tenth century A.D. and its momentum extended up to the closing years of the twelfth century. The religious syntheis was quite effective so far as the Indianization of various groups of population in a wide circle was concerned. It was, however, not adequately operative as regards the internal coherence and welding of various and different elements in the society. The mass of Indian humanity left to itself and practically free from external troubles from the middle of the sixth to the twelfth century A.D. developed immense varities, bifurcation, group independence, group individuallity, exclusiveness, and localism.

Under the circumstances, there was no organic unity in the society. The society did not function like a living organism ; rather it consisted of blocks and compartments put together and linked together under cultural synthesis but lacking in an underlying socio-biological unifying force.

14. *Medieval Stultification.*

For this state of things in the social structure of India various factors were responsible. Temperamently Indian mind has been tolerant of varieties and differences and it believes in living and letting live others. Philosophically this sound principle was applied wrongly to internal conflicts and contradictions which ought to have been resolved for smooth and unified social functioning. In many cases tolerance was a cover for indifference and inertia. Indian polity and law were also indifferent towards social uniformity and unity and they recognized *desāchāra, jātyachāra*, and *kulāchār* which perpetuated local, tribal, and family segregation and differences and thus prevented a complete and perfect coherence of social life. It was, perhaps, due to the fact that under a purely monarchical system of rule the early medieval period of Indian history, internal social differences were not politically consequential. But inspite of compartmental and blockwise structure of the Indian society, social life was not extremely rigid and change and movement were possible, as the line of demacration between customs and law was very thin and new customs could be started under the force of the circumstances, though conservative forces tried to retard this process but never succeeded in stopping it. We have a number of instances of intercaste, interreligicus and interprovincial marriages taking place during this period. This allowed the society to move on though under a number of restrictions.

15. *The Advent of Islam.*

The advent of Islam in India created quite a new situation. It came here in the wake of political conquests ; it had the zeal of a Jehad ; it was following ruthlessly the policy of converting other religions to Islam and it was in no way prepared for compromise, co-mingling and social cohesion. It had the avowed mission of converting India to Islam. The Indian society would not break under the impact of Islam, even after its political defeat, as it was well established on the basis of a solid cultural pattern and it had the requisite vitality and tenacity to resist and to survive. But there is no doubt that it was hemmed in by two forces, (1) the instinct of self-preservation resulting in an extreme type of conservatism and (2) the fear

of extinction resulting in the sense of frustration and inertia. The natural consequence of this situation was the ramification and stultification of ever-increasing compartments and blocks of the Indian society. The fugitive isolation and segregation started between the Hindus and the Muslims for defensive purposes, because while the Muslim rulers inspired and forced conversion from Hinduism to Islam, reconversion from Islam to Hinduism was forbidden under the penality of death according to Islamic Law, did not stop here; they permeated the whole Hindu society and each compartment or block of the society was vying with the other in observing these measures. It looks strange that the Muslim States in India, which encouraged conversion from Hinduism to Islam, did not allow the change of castes among the Hindus. Hindu revival under the Marathas and the Sikhs reacted against social stultification and isolation and tried to build the Indian society on a national and territorial basis. But before this revival aiming at the reorganization of society became wide-spread and effective the Europeans from the west appeared in India and created new social problems in the country.

16. *European Contact and New Forces.*

The arrival of the Europeans and the establishment of the British rule in India gave birth to a number of social problems. Except the Portugese, the Europeans did not directly adopt the policy of religious conversion from Hinduism to Christianity, but indirectly encouraged it in so many ways. The Europeans and Indian converts to Christianity formed new social groups, like the Muslim communities in India, separated from the Hindu communities. Socially Muslim communities were better integrated than the Christian communities, because in the latter the race complex divided the Indians and the Europeans. But a wide social gulf existed between the Muslims and the Hindus, and the Christians and the Hindus, and it continued yawning due to religious and political causes. Thus the existence of the European power in India during its early career engendered political, religious and social problems similar to those created by the Islamic power, though the former was more liberal, enlightened, and subtle in its attitude and approach towards Indian life. The British rule in India rendered a great disservice to the Indian society by giving a rigid legal status to all social customs and systems that previously depended on usages and were always liable to change. The legalization of customs made Indian society all the more fossilized.

But during its later career the western power in India became a medium of forces which being universal in character are bound to change the structure of Indian society. These forces are the scientific discoveries and their rationalising and liberalising influence on human mind; the development of social sciences explaining and suggesting the process of social growth and evolution; mechanization of life and the increase of human control over nature, resulting in the breakage of physical and psychological barriers; industrialization, effecting the collapse of old economic and social structure; equalitarian ideals and democracy offering hopes and opportunities for the realization of individual ambition. These forces are not of the nature of political invasion or religious *jehad*. Being scientific in essence they very easily transgress the limitations of race, nations, religions, and politics. In the present day world in almost every country these forces are pervading society in a very subtle and psychological manner. Under their compact during initial stages social conflicts are inevitable for the emergence of a reformed, healthy, and live society. These conflicts are not so much between the West and the East or between the races and the religious; really speaking they are between the old and the new mechanism and structure of life on the material and social planes. Their influence on Indian society is working on the following lines:

(1) It is loosening the grip of race, caste, and community on individuals.

(2) It is making the change of professions possible and much easier than before.

(3) It is increasingly promoting the social intercourse between communities and communities, and between religious groups.

(4) It is encouraging mixed assemblage of peoples of different social groups, common meals, and to a limited extent inter-caste and inter-religious marriages.

(5) It is gradually standardising the level of living.

(6) It is removing untouchability and raising the status (social and economic) of depressed and backward classes in society.

(7) It is slowly but surely developing the consciousness of society based upon national and territorial considerations.

(8) It is introducing uniformity in this social pattern.

17. *Present Tendencies.*

The bearing of these changes on the social structure of India are obvious. These changes are against the perpetuation of race, caste and

communities, the caste or *jati* in India is in the porcess of liquidation, though it is resisting the new forces and struggling sometimes with the vigour of the last flicker. So far as the institutions of *Varṇa* and *Āśrama* are concerned, their circumstantial association with birth and heredity is no longer tenable. But they are of high social values in their scientific and impersonal form and as such they are not likely to perish, though they require a restatement and a redefinition. The joint and stationary Indian family is de-centralised, though social security ensured by it is not provided by the society or the state. Undue and invidious limitations on marriage are gradually removed, but old sex morals and customs are not finding their suitable substitutes because the society and the state are not arranging for sex technique and sex morals. The general trend is towards a collective and uniform society, though the identity of social interest is not promoted which is creating a social and moral chaos inspite of a mechanical uniformity. Transitional complexities of the present age are waiting for a healthy synthesis in the body social.

INDOLOGY AND RESEARCH

Dr. V. S. Agrawala

The two most important nationalising forces emerging in our country within the last hundred years have been Sanskrit and Indian Archaeology. They have richly contributed to enhance the depth of our national consciousness and have engendered a justifiable pride in our past achievement and future destiny. They have in a very subtle and healthy manner deepened the joy of our soul and inspired us to re-capture the glories of bygone days in the coming future. Sanskrit literature and thought have widened our intellectual horizon, nurtured our cultural traditions, enriched our modern literatures and languages and have conferred on our nation the pride of possessing one of the world's richest literary heritage. Our legacy of Sanskrit literature involves almost the same problems of collection, publication, interpretation, and broadcasting as were faced by leaders of the European Renaissance in respect of the literatures of Greece and Rome.

Indian archaeology has unfolded some of the most thrilling chapters of Indian cultural history. Its achievements within the last century have increased our knowledge of Indian culture not only within her own borders, but also revealed the cultural expansion of India in the surrounding countries, thus giving a new value to our national existence in the comity of Asian nations. The science of archaeology laboriously built up at many fronts has placed India at the hub of a vast cultural *Dharma-chakra* whose epiphery was constantly enriched by the overflow of cultural impulses from the Indian sub-continent. Nothing gives greater joy to the soul of Mother India and to her sons than to be told by the firm science of archaeology that from the Chinese Turkistan and the Tarim Basin in Central Asia to Ceylon, and from Bactria and Ariana in Afghanistan to Burma, Indonesia, and China, India propagated the mission of peace and freedom, of cultural and social expansion, and of literary and philosophical developments of the most extra-ordinary kind. India achieved in the past what we hope to realise again in future—an order of Universal relationships based on equality and intellectual freedom, on peace and the essential oneness of mankind.

With the attainment of freedom India has to plan on a gigantic scale to rehabilitate her vast millions in the economic field, in the domain

of social relations, and in evolving an integrated political life. But these vast experiments in social relationships for the good of humanity cannot be made successful until and unless this integration is brought about through culture programmes of Himalayan proportions which alone can harness the moral and intellectual forces of men and women in India. Here lies the important role of Indology, in which both Sanskrit and Archaeology will serve like the two wheels of a moving chariot or the two wings of a soaring bird. Once the Western nations impelled by the joy of new discovery did wonderful work to unravel the culture and literatures of India, but their interest is now shifted to kindred problems of Middle East Archaeology. Therefore, India now will have to do the job herself. Indian scholars and Research institutions should themselves bear the torch of light and learning so far as Indology is concerned. The task is of huge dimensions, but at the same time urgent. If the subject is to be tackled, an earnest beginning must be made at this juncture so that the transition from European to Indian hands comes naturally and without break. The full-fledged science of Indology involves a four-fold programme, viz., (1) collection and preservation of manuscripts and specimens of art and archaeology, (2) publication, (3) interpretation and research, and (4) creating proper centres of teaching for this important branch of Humanities. Fortunately the material relating both to Sanskrit and Archaeology is of staggering extent and spread over several continents.

The number of Sanskrit manuscripts in the Indian libraries and collections is about a lac and a similar number exists in Europe and America. Besides vast numbers of Sanskrit and language manuscripts are available in private hands which should be urgently acquired, where possible, for public libraries to rescue them from decay and disappearance. Only a National Commission for the survey of Sanskrit manuscripts and a permanent body to reclaim them can solve the problem. Generations to come will feel grateful for what may be done in this respect at the present critical juncture, when the age-old methods of preservation and the private libraries of the traditional Pandits are fast disintegrating. The collection of valuable manuscripts from Kashmir in the last decade of the 19th century was a boon to Sanskrit learning and every editor of Indian texts knows what supreme value the Sharda manuscripts possess for the accurate transmission of ancient texts. To-day the manuscripts in Kashmir in family libraries are fast disappearing. Future editors of Indian literature will feel the loss greatest if adequate and immediate steps are not taken to preserve that

wealth for posterity. The scope of Sanskrit learning has been vast and varied. Philosophy, Religion, Ethics, Politics, Law, Literature, Dance, Music, Drama, Art, Architecture, History, Purāṇas, Dictionaries, Grammar, Mathematics, Medicine, and a large number of other useful technical sciences were developed in India and are documented in the rich heritage of Sanskrit manuscripts. They contain a body of traditional learning, scientific terminology and facts valuable for the all-sided life and culture of the Indian people. The value of manuscripts is really indescribable. A single manuscript like the *Arthaśāstra* of Kauṭilya brings prestige to the whole country and sheds light on its thought and life. It is expected that many gaps in the literary history of India would be filled up by a systematic country-wide survey of manuscripts. The chance discovery of birch-bark manuscripts from Gilgit in Kashmir written in the script of about the sixth century A.D. has brought to light the Sanskrit version of the Buddhist Tripiṭaka as developed in the early centuries of the Christian era, which was lost in its original Sanskrit form but preserved only in Chinese translations. Again, in the sand buried ruins of Central Asian cities about ten thousand manuscripts and fragments were found by the Indian, French, and German missions of which the biggest collection is preserved in the Bibliotheca Nationale at Paris. Other similar discoveries both in India and abroad must surely follow patient search undertaken according to plan.

The next urgent problem is that of editing and publication of the ancient texts. An old manuscript is as good as being defunct unless it is treated according to the modern method of textual criticism and then presented in a proper garb with suitable introduction, comments, and scientific interpretation. It is not enough that an old text is merely printed off ; it is much more necessary that it should be accompanied with an apparatus of interpretation which upto date research in the domain of literature and archaeology may proffer. For example, a string of ancient geographical names and routes is hardly of any interest without their modern identifications and comments about their cultural and economic importance. All this forms part of the developed knowledge that comes under Indological Research.

After the ancient material has been presented in a well edited form, the next really important step of promoting cultural research on that basis should be undertaken. This is a big task in which all the Research Institutes of the country and the Post-Graduate Departments of the various Universities should take their due share. They should plan research work

over a term of years and take definite measures for implementing their part of the work. For example, we should build up our research programmes to lead towards the four focal points of compiling comprehensive histories of (1) Indian literature, (2) Indian Philosophy, (3) Indian Culture, and (4) Indian Art in all their branches and widest bearings. Indian literature, for example, includes in it Sanskrit, Pali, Prakrit, Apabhraṁśa, and the literatures of the provincial languages of India which started their career after the expiry of the classical period. The fact is that upto now there is not a single standard history for any of the literatures of India on the same scale as, for example, the Cambridge History of English Literature. The Universities should confer on these points and collaborate their resources in this great task, each to mould its activities in accordance with the local talents, traditions, and resources available. During recent years more attention has been paid to scientific subjects in Sanskrit and Prakrit. On music alone no less than 200 texts, and on architecture even a greater number, are accessible, but hardly has the material been utilised either for the purpose of a history of literature, or for the benefit of the respective sciences, or for the purpose of Indian lexicography. The related problems with regard to the material in each field have to be faced and a beginning should be made in the immediate future.

The history of Indian thought is even richer and shows an uninterrupted flow for at least 3000 years. From the earliest Vedic utterances to the days of Gandhi and Tagore, Indian Philosophy furnishes the most brilliant chapter in the history of human thought. It is utmost necessary that a comprehensive history should present the story of India's intellectual and spiritual progress from age to age as embodied in the works of her great thinkers, religious leaders, and poet-saints. The number and names of Indian philosophical writers and religious authors would fill a veritable encyclopaedia. The motive forces unfolding in each century and inspiring the hearts of men to action and devotion, the great spiritual explosions which marked the peak periods of cultural progress, the cultural movements releasing vast stores of human energy for great achievements in various fields—all these have to be visualised by the true historians of Indian thought and to be presented objectively, scientifically, and sympathetically with a complete mastery over the existing material in any shape and form whatsoever.

The history of India's material culture depicting the manifold aspects of her life and achievements in the domain of social, economic, and political

progress may be said to be a task of supreme urgency so far as the proper direction of our modern cultural movements is concerned. The literary and archaeological material is of great richness and only planned research work can help us to understand the many aspects of Indian life in hitherto unexplored fields. There are many suitable topics on which research work can throw light, and special attention may be drawn to the following: Gods and Goddesses; Houses and Dwellings; Metals and Metallurgy; Ornaments and Jewellery; Furniture and Utensils; Toys and Clay-Figurines; Weights and Measures; Coins and Minting; Conveyances and Draught Animals; Food and Drinks; Art-Fabrics and Costumes; Gems and Precious Stones; Games and Amusements; Cosmetics and Toileting; Arms and Weapons; Strategy and Fortification; Crimes and Punishment; Music and Musical Instruments; Birds and Animals; Dance and Gestures; Time and its Divisions; Agriculture and Dairy-Farming; Corporate Life and Guilds; Medicine and Surgery; Hygiene and Sanitation; Town-planning and Roads; Images and Temples; Drama and Stage; Feasts and Festivals; Place-names and Personal Names; Scripts and Book-making; Seasons and Climatology; Rituals and Sacraments; Gotras and Pravaras; Married and Ascetic Life; Death Ceremonies and Burial Customs; Symbols and Decrative Motifs; Mountains and Rivers; Sacred Places and Pilgrimage; Travellers and Travelling; Administration and Administrative Ideals; Law and Judicial System; Royal Paraphernalia and Palaces; Court and Attendants; Stories and Folk-lore; Ethical and Spiritual Ideals; Mendicants and Religious Sects; Forms of Literary Styles; Prose and Poetry; Art and Iconography; Sculpture and Architecture; Painting and Book-illustrations; Temples and Towers; Stūpas and Monasteries; Artists and Artisans; Castes and Tribes, etc.

These may be some of the topics on which research work can be done and standard dissertations produced in order to clarify the web of Indian life. The people will be richer if light is thrown on their cultural institutions; thus we shall be able to mould the future with our rich experience of past times. For example, there are long lists of Indian musical instruments, at times comprising a hundred items preserved in ancient Jain literature. This data should be brought together, subjected to comparative study and interpretation in the light of all the known facts. It is to be clearly understood that so far as Indian cultural history is concerned its various traditions, namely, Sanskrit, Prakrit, Pali, and Apabhraṁśa, and the literatures of the regional languages constitute an indivisible whole.

No study of any topic can claim to be complete or final until and unless it takes note of the several literary tranditions. Indian culture presents an integral unity ; it does not brook fragmentation or water-tight compartments. As a matter of fact like the sparkling gem of many facets the Jewel of Indian culture, shines with added radiance as it receives illumination from different sources. It is a rich fabric possessing the embroidered beauty that was in the lives of the diverse peoples inhabiting this country over vast stretches of time and space.

Indological research is scientific work as should demand the intellectual effort, integrity, thoroughness, and objectivity that are associated with modern scientific methods. The Indian people in the present stage of their national awakening are increasingly eager to know more and more about their ancient culture and the early history of their institutions, and they desire to understand how in the light of their past they can mould a better future. Research work in Indology, therefore, cannot be said to be a luxury or the intellectual curiosity of a few persons ; it is a task of which the community has great need and the fulfilment of which will impart richness, light, and life to the whole people.

KALINGA IN THE BUDDHIST LITERATURE

Shri Amar Chand

The Mahāgovinda Suttānta[1] mentions King Sattabhu of Kaliṅga as a contemporary of King Reṇu of Mithilā and of Dhataraṭṭha or Dhritarāshṭra, king of Kāśī, who are mentioned in the Śatapatha Brāhmaṇa.[2] Taking into account the evidence of the Kumbhakāra Jātaka, King Nimi of Videha, King Nagnajit of Gandhāra, and King Bhīma of Vidarbha must be considered to have been contemporaries of Karaṇḍu, king of Kaliṅga. It follows from this that the kingdom of Kaliṅga too was in existence in the time of Nimi and his contemporaries of the Brāhmaṇa period. There can thus be little doubt that Kaliṅga existed as an independent kingdom in the time of which the Brāhmaṇas speak.

The Sarabhaṅga Jātaka[3] refers to a time when Kāśī was just an independent kingdom, and existed side by side with the kingdom of King Daṇḍaki. The city of Kumbhavati was his capital city. He was a powerful monarch so that his supermacy was freely acknowledged by Kaliṅga, the king of the land of the Kāliṅgas (Kaliṅga-rājā). King Kaliṅga is described as one of the lords of subordinated kingdoms (antararaṭṭhādhipatino). Name of the capital city of Kaliṅga, at that time, is not mentioned. But the Jātaka contains a pathetic story of the dire calamity that befell the Daṇḍaka kingdom and brought utter destruction upon it. It indicates a turning point in the political history of ancient India, for in the subsequent chapters of the same Jātaka, the historian is to look for the annals of the rise and influence of the Kāśī empire. The Buddha's birth-story, given in the Mahāgovinda-Suttānta, may, hence, be taken to be an annal of the full flowering of the Kāśī empire with Kaliṅga, Aśvaka, Avanti, Sauvīra, Videha and Aṅga as the six subordinate kingdoms under it.

Kaliṅga is not mentioned among the sixteen great nations enumerated in early Pāli text-books. But the Dīgha Nikāya, one of the earliest, mentions Dantapura as the capital of the Kāliṅgas. The same is not to be found in the Aṅguttara Nikāya, but is reproduced in the Mahāvastu in a

1 Dialogues of the Buddha, II, 27.
2 XIII. 5, 4, 22.
3 Fausboll's No. 522.

very incorrect form.[1] This tradition proves that at the time when the four Nikāyas were put into their present forms, it was believed that before the Buddha's life-time the distribution of power in Northern India had been different from what it afterwards became.

Kaliṅga is referred to more than once in the Mahāvastu[2] as an important kingdom. Reṇu, son of King Disampati of Kaliṅga, was once compelled by the instigation of Mahāgovinda—the son of the family priest, to cede the six provinces of his father's empire, viz., Kaliṅga, Pattāna, Māheśavatī, Vārāṇasī, Roruka, and Mithilā, to the refractory nobles. Brahmadatta, a wicked king, once reigned in Kaliṅga. He used to have Śramaṇas and Brāhmaṇas invited to his palace and devoured by wild animals.[3] Dealing with a previous birth-story of three Kaśyapa brothers, who are counted among the first converts and desciples of the Buddha, the Mahāvastu[4] relates how they were born, in previous birth, as three half-brothers of the previous Buddha Pushpa or Pushya and sons of King Mahendra of Hastināpura by same mother, and reigned together amicably in the city of Siṁhapura in the land of the Kāliṅgas. Dantapura, which is also referred to by Yuan Chwang, was probably one of the capital cities of Kaliṅga where ruled a king by name Nālikela.[5] The alphabet of the Kaliṅga country is referred to in the Lalitavistara[6] as having been mastered by the Bodhisattva. The Bodhisattvāvadāna Kalpalatā[7] mentions a country named Khaṇḍadīpa burnt by the king of Kaliṅga.

The Pāli texts mentions Kaliṅgāraṇya which might have denoted the jungles far inland on the Amarakaṅṭaka range in which the Narmadā rises and which is situated on the western part of Kaliṅga. Pargiter suggests that the tribes inhabitating these jungles must have been under the suzerainty of the kings of Kaliṅga.

There is another reference in the Buddhist literature, which gives us an insight into the divisions of Kaliṅga into two kingdoms while in regard to its general features it appears to support the description of the country, also found in the Mahābhārata. According to the Ceylon Chronicle, Mahāvaṁśa, the mother of Vijaya, the conqueror of Ceylon, was a princess of

1 Cambridge History of India, Vol. I, p. 172-3.
2 III. 204 f.
3 III. 361
4 III. p. 432-3.
5 III. 361.
6 pp. 125-6.
7 8th. p. 27

Bengal. But her mother was a daughter of the king of Kaliṅga. She was banished by her father on account of her lascivious waywardness. She, hence, left the country in the company of a caravan of merchants bounded for Magadha. While they were yet on the way, passing through the country of Lāḍha, modern Rāḍha or Western Bengal, they were set upon by a furious *lion* (Siṁha). The party scattered, and the princess fled, as did the rest, for life. But accidently she took the path by which *the lion* had come, so that when he returned, he found the princess. He was so much charmed by her beauty that he carried her away and begot on her a son and a daughter. Siṁhabāhu or Sihabāhu was the name of their son, and was so called because of the peculiar feature that he had the arms of a lion. He later on became the father of Vijaya. In his later days, *the lion* grew very much troublesome to the frontiers of the kingdom of Bengal, and so Siṁhabāhu, at the instigation of his maternal grandfather, killed him. In the meanwhile his uncle married his mother, and became the ruler of Bengal. In order, probably, to divert the attentions of Siṁhabāhu from him and his newly-seized kingdom, his uncle permitted him to clear the forest and to set up a kingdom of his own, which he, of course, did.

Thus the kingdom of Northern Kaliṅga is said to have come into existence. Its capital was Sihapura or Siṁhapura, named after its founder. This country was probably the forest region of Kaliṅga immediately adjoining the territory of Bengal in the lower reahes of the Ganges. It is very likely that the older kingdom lying farther south did continue to exist, since we find the kingdom of Kaliṅga described in early Tamil literature as composed of two parts with their respective capitals at Kapilapura and Siṁhapura.

Certain early scholars interpreted the above story as involving the banishment of the Bengal princess from there to Lāṭa or Gujarat, as they mis-equated Lāḍha with Lāṭa. But Prof. R. D. Banerji[1] argues, "It is beyond any doubt that Lāḍha under reference is the eastern Prakrit form of Rāḍha, a division of the Vajjabhūmi on the bank of Sone river, or much rather between the Sone and the Ganges, what might be called in the modern terminology West Benga.l."

---

1. History of Orissa, Vol. I. p. 49 f.

A NEW APPROACH TO THE SANKHYA PHILOSOPHY

SHRI V. RAGHUPATI

Every Hindu is a potential saint be he the remote vedic sage or the present day commoner. India, the birth place of the vedic seers, Mahavira, Buddha, Shankara, Ramanuja and a host of devotional saints, is a land of intense god-making. The Hindus always feel that they eat the food of God, live in the shelter of God, and merge in the grace of God. The idea of God can be studied from the Hindu scriptures and their philosophical interpretations. The systems of Indian philosophy appear on a superficial level as divergent and even opposed, like the pluralism of the Nyaya, dualism of the Sankhya, and the advaita of the Vedanta, but one should not fail to grasp that they spring from an intense religious feeling of the Hindus. Even in a system like the Yoga, where only self-culture is stressed, a regal seat for God is reserved. It seems as though no Hindu can think except in relation to God. The whole issue of the philosophical tumult in Indian thought is about the importance of *kriya* or *jnana* as a means for the emanicipation of the individual souls. All systems of Indian philosophy owe their allegiance to the Upanishad, and in such cases of the so called non-vedic origin, the later interpreters have either reconciled their true stand, or the assumption of a non-vedic origin was only against ritualism and not against the vedic teachings. Jainism and Buddhism rose against ritualism and not against anything else.

The relations between God and man are contained in the different texts of Hindu religion and each has brought forth a philosophical support to suit its needs. Beside the outer cries there is something unique in the thought of every Hindu. Maxmuller, a celebrated scholar on Indian thought, had to tax his brain hard to transcribe in words the Indians' belief in a Supreme God and yet adoring a multiplicity of gods. It is not known how far his expression 'henotheism' has solved the situation. To believe in a Supreme God and yet adore with equal fervour a plurality of gods must be either self-deceit or the part of an imposter with an end in view. Only a Hindu knows his experience of such a feeling but has no power to reveal in words his true position; and that experience alone is capable of expressing itself out as a spirit of tolerance. A spirit of tolerance is possible for one who knows the past and also the future and takes the present as a nominal coupling of the two. The present has a nominal existence

and has only a relational value as a link. Man comes as a link between the Absolute and God. If the Absolute and God should meet man has no purpose for his thought.

The fertility of Indian thought reached its acme in the Sankhya philosophy with a duality of Purusha and Prakrti. The greatness of the system is its flexibility to accommodate every side of Indian thought. It has within it a daring attempt to call itself atheistic, dualistic with two ultimate Realities, idealistic on the subjective character of the composition of Prakrti, theistic as the sole purpose of Prakrti is for the liberation of bound souls, and pluralistic by the existence of several purushas. One can read any type of philosophy by a slight adjustment of the three entities Purusha, Prakrti, and a plurality of Individual selves. The Sankhya is a mirror that reflects the all-round development of Indian thought. Any one capable of understanding its real significance can read from it the seeming divergent currents of faiths and their parallel developments in the period from the 7th century and later contained in the teachings of Shankara, Ramanuja, Madhwa, Nimbarka, and the devotional songs of the saints of the U.P., Bengal, and South India, as apparent, and to have sprung up from a settled state of belief in an Absolute from the very early days of the long past vedic ancestors. The problem of Substance announced by Descartes in the 16th century which proved a perplexing question for the rational philosophers of the West, was no problem for our ancient sages, but was raised by them as early as the 5th century B.C. as a sort of re-affirmation of the eternal truth. Spinoza, the god intoxicated, was condemned by the Synagogue, for speaking of a Single Substance as God, and everything else as His attributes and modes. Bruno, a saint philosopher, a bit frank in his dealings with the Church fathers of the 17th century, was burnt at the stake in Rome (1600) for his heretical theory of God, not as a Creator but as the soul of the world. It is with interest we note that the teachings of Jesus Christ and Mohammad, the Prophet, became popular as they advocated the greatness of God as the Creator and His mercy for the created beings. An identical relation between God and man demands tolerance and in the absence of which one turns a fanatic. Our great ancestors knew well the mob mentality and reserved Brahmavidya or the knowledge of the Absolute, to a selected few who had already reached a requisite standard of vedic knowledge.

Sankhya, the pearl of Indian thought, supplied Maya to Shankara's advaita, which stands today like a tower, at the foot of which mighty

tempest of merciless criticism from all other faiths raged with all their violence. Prakrti of Sankhya will reveal why our great sages have smuggled the Reality into a maze of tautology. The choice of disciples for Brahmavidya became unrestricted and soon demanded as a matter of birth right, just as we hear now from people of underdeveloped areas prompted by crafty politicians and not by an instinct of political consciousness, crying that freedom is their birth right, no matter whether they could preserve or utilize it if won. Brahmavidya or the knowledge of the Absolute cannot be bought for any price or conferred upon any one claiming as a matter of birth right, but has to be acquired by diligent self-realisation. Instead of checking the people which became impossible due to social awakening, the wise sages of the past, enriched the literature dealing with the Reality by terse aphorisms, so that they might be approachable only to the qualified people, and appear as anything to the fancy of the unqualified.

Having arrived at the idea that the Sankhya is the main ground where every side of intellectual development of the Hindus reached its highest pitch, it is necessary to see how the Reality has been dressed to be realised as true by the qualified people and anything else for the unqualified. The three gunas, Satwa, Rajas, and Tamas, in a combination of inseparable relation is the one reality called Prakrti, which undergoes changes to become the world. The evolution is both physical and psychical, for the sentient Purusha which is the second reality in the system, is only an onlooker. Buddhi, an evolved matter of Prakrti, reflects the light of Purusha and becomes the ego in man.

The crux of the system lies in the understanding of the Prakrti. It is both sentient and insentient, active and inactive, and objective and subjective. It is a Reality as well as an Appearance. Realistic in the sense that the Prakrti is eternal and has self activity. Prakrti becomes an appearance because it is formed of three gunas and the gunas themselves are collectively known as the Substance of Prakrti. The evolution of the gunas into Mahat, Ahankar, Mind, Sense organs, Motor organs, Tanmatras, and Mahabhutas is highly questionable, as reason demands why there should be only 24 principles and not more or less and following of the celebrated order from Mahat to Mahabhutas.

Prakrti in a state prior to evolution (avyakta) is in a state when all the three gunas are in a state of equilibrium. Satwa, Rajas, and Tamas are the three gunas but no one can speak of them individually except in relation to the other two. Though they are named gunas (qualities) they

are not the gunas of Prakrti. The three gunas Satwa, Rajas, and Tamas, are white, red, and black, and also characterised peace, pain, and difference respectively. The three gunas are universal terms and every object of our experience has them. The word Prakrti is only a name for the three gunas. The statement that the three gunas always appear simultaneously but in different proportions is true because all objects of our experience are visible only by difference of colours and no undifferentiated feeling of peace, pain, and difference is possible except in the case of a mystic saint. The exterior world receives our attention because of its colourful nature and subsequently our judgment imposes on objects a relation of peace, pain, or indifference. There are minute germs visible through powerful microscopes, and other things brought into vision by telescopes and by photography, but nothing actually invisible is ever taken up for observational study. Of all qualities colour comes first to reveal the world and then weight or movement, length, width and height and all other senses begin to function. Prakrti taken as a reality for existence of the world is derived or rests upon colours and from them only feelings of peace, pain, and indifference are deduced.

Another important factor is that we speak of qualities resting on substances. If the qualities of whiteness, hardness, and sweetness are removed from a lump of sugar, the substance constituting sugar becomes a nothing. The so called qualities alone are responsible for revealing the existence of the multifarious objects of our observation. Mere qualities cannot hang on the air for long. They settle down to become earth and objects of the world. This is the evolution. Prior to manifestation the qualities remained in a state which we understand by such abstract terms as beauty, harmony, goodness, whiteness, glory, pain, and indifference.

It is to be seen how colours are the only things that play the entire part in our life. In learning colour plays its role. Children are attracted by bright colours. A book containing attractive pictures is the best text-book for children. Learning starts from simple colours to complex colours and advances higher and higher to determine the invisible X-rays. Learning is possible by contrast. A white print on white paper is not attractive due to similarity of colours. Pain and pleasure on hedanistic lines is also the play of colours. A rose because of its colour is attractive. A sky-flower which has no colour will attract nobody. A clear glass of water is pleasing than a dirty drain running nearby. Everyone has a vocabulary of the colours of his liking and dislike. A wise husband leaves the selection

of dress to his wife. He cannot know the colours she likes. It is colour that makes a thing ugly or beautiful. Aesthetic outlook is based on colours. Colour determines emotional aptitude. In anger, the eye balls become red. In happiness there is a floating flush of the cheeks, assuming a rosy hue. That 'blue-eyed sergeant' is a typical expression in the army, for one noted for discipline and alertness. The flag of the Indian Republic has three colours and each has a significant command. Black-flag demonstration is not the same as flag hoisting on a ceremonious occasion. Colour determines heat in a burning fuel or a piece of red hot iron. Textile industry has made the best of the psychology of colours. They are the pioneers to see how colour plays an important part in our everyday life. Artists know the power of colour. In war, colour is the most important factor. A civilian is contrasted by the uniform of a military officer. Uniform is a simple coloured dress. A military officer in uniform is different from what he is in plain clothes. The coloured dress exercises considerable influence on his psychic side. A policeman in plain clothes standing by the side of a sweeper has no influence on us, but if he simply wears a red turban on his head, our mental passivity springs into activity. Amoeba, the lowest organism reacts with its whole structure on the stimulus of a colour. A buffalo runs terrified by the sight of a red rag. The prejudice of the White race on the coloured people has its birth in the difference of colours. White colour is known for peace and black for indifference. World peace and international brotherhood rest on a better understanding of colour relations. The South African problem of social disability to the coloured people is a psychological issue based on the interaction of colour upon colour. Even in our land, the natives of the soil who were black in colour were looked down by the invading Aryans. The natives were driven to jungles and hills and our present brothers and sisters, called the tribesmen living in Assam and in the far south of India, are a living monument of our notoriety in colour discrimination. Varna means colour and the same divided the Ancient Hindu Society into 4 groups. A white stone becomes marble to serve on our office tables as paper-weights and tablets on our buildings, while a black stone receives no regard. A white cloth is spread on the dinner table while a soiled one is hidden in the bin. Gross activities leading to political unrest have their spring board from colours. The domination of one strong colour over a weak one is an instinctive activity. No nation can be blamed for it, for every one of us rise from colours, live in them and lastly perish in them. The Sankhya philosophy has given us a solution to escape from the influences of colours. Prakrti is a com-

bination of colours and true so long as it is taken for colours, but becomes mere qualities having no reality except in Purusha, the Supreme Light. All of us know that the colour band of a spectrum is the outcome of sun rays through a glass prism. The colours can boast of their beauty and strength only in relation to the white light from which they have evolved. Light or the Purusha is the one Reality and everything else has only a relational value. Knowing the existential status of colours is otherwise known as self-realisation.

I am sure that the readers are convinced that life, matter and their puzzling questions are but the game of the colours. The object in tracing a few examples is to point out that activity initiated by minds and carried out by bodies are in reality an active process of adjustments towards the influences of colours. Pain and pleasure, love and hatred, beauty and ugliness are the action of colours. Light of our souls act on the colours of the world. It is by the power of 'Light' which is knowledge that we work. The thing acquired is not knowledge but due to it and a mere phase in the long history of the action between 'Light' and colours.

No Hindu worth the name can fail to understand the significance of sat-cit-ananda. God is 'Absolute Light'. He has infinite colours. A limited number of them has become earth, matter and selves, and some others have formed into sun, stars, and the heavenly bodies. Light Absolute has all the colours but is limited by none. It has the positive and negative sides. The Jain theory of relativity explains colours and necessarily has to take its support on an Absolute Light. The Buddhistic theory of impermanence refers to colours but necessarily takes its support from an unchanging 'Light'. Shankara's reference to Ishwar and Maya are to the work of colours and Brahman stands for the 'Absolute Light'. Ramanuja's Vishnu is 'Absolute Light' and His body is the sum-total of colours.

This conception of God in Indian mind is unique and remains so from the remote past to this day. Every system of Indian thought and every religious reformer born on this holy soil has the clear understanding of the advaitic relation of God and God-in man. This inseparable relation between, god and man, i.e., colours and light, can be understood by the scientist if he gives up his hold of the Newton's glass prism and sees through the prism of his mind the holy play of the 'Absolute Light'.

Evolution.

In the beginning (really there was no such a beginning), the *one*

without a second was Light which we understand by the 'Light of God'. If Light had remained light, what about the world? By our understanding, we see how a white light has in it a number of colours and, therefore, it would be not mere imagination to say that the 'Absolute Light' contained within it all the colours, i.e., what all we see and experience. Our world of experience is not different but within the 'Light of God'.

At the top there is God, and at the bottom there is the matter. The highest is 'Light' and the lowest is its colour. Colours are either visible or invisible. The visible colours are our bodies and matter. The invisible colours are our minds and souls. There is a gradation of colours placing angels and deities on a higher scale. Every colour is trying to become purer and purer to become one with 'Light'. The denser the colour the lower is its stratum of existence. Why there is the evolution of colours and their efforts for emanicipation to become 'Light'? As already stated 'Light' is the very essence of consciousness. We know that only activity can be attributed to consciousness and not to a stone or a wooden pillar. Because there was only 'Light' and 'Light' only, there was nothing else than consciousness. That consciousness would have been no better than a stone had it not the *thought of itself*. The 'Light' knowing itself is the origin of colours as no self-consciousness is possible without the self differentiating from itself. This part played by 'Light' is creation. This is the idea contained in the Sankhya for naming Prakrti as gunas or qualities. The qualities alone are capable of taking forms in evolution. For the qualities to become manifest the presence of Purusha or 'Light' or consciousness is required. It is for the pleasure of Purusha or consciousness that the qualities called Prakrti dance like a damsel. Purusha the Absolute Light, has nothing to realise. It is always in a state of Moksa. Prakrti requires 'Light' to unfold itself and to look upon itself with the help of ego centres supplied by Purusha to realise that it is a product of qualities. The plurality of purushas stated in the Sankhya are really the ego centres of Prakrit. The ego centres reveal that Prakrti is only a sum total of qualities or colours. The things released from bondage are the several pockets of ego centres. Purusha, Light, and Brahman has nothing to realise and does not need to fall into Prakrti and then try release from its clutches.

Death and Destruction.

Destruction is one stronger colour swallowing a weaker one. We know that black colour is capable of absorbing several other colours. White light contains in it several colours called vibgior.

Moksha.

When I said that death means one stronger colour swallowing a weaker one, the idea is that the colour swallowed is yet alive in the womb of the stronger colour waiting to gather strength to come up again. In the real sense death is a temporary lull in the activity of a colour. There is birth, rebirth, and ultimately moksha. The state of moksha is attained if a colour has by its strenuous work realised that it is not a mere colour but one in the 'Absolute Light' and a thought wave in Sat-cit-ananda.

Space, Time, Cause, and Effect.

There is nothing as space in 'Light'. Space becomes possible in colours only. It is the work of colours. Space is determined by that portion of an invisible colour operating between two visible colours. There is nothing as time. Time is the work of colours. It is but a historical account of the emanicipation of colour. Idea of time is possible by a colour gaining in intensity or gradually losing itself from visibility.

The *first* cause is 'Light' and its effects are colours. The other causes and effects of our observational world are called so by courtesy.

Ethics.

Every object of the world is a colour or a combination of colours. The colours have no existence apart from 'Light' which is God and 'Absolute Consciousness'. Souls, bodies, and matter are colours but of varying intensities and each is a conscious object. There is nothing else than consciousness. Its gradation is the play of colours. Stones have such a small amount of knowledge of their existence in 'Light', that a higher colour like man due to ahankar says that not only stones but also plants have no consciousness. Bearing this in view one should think not only in terms of his neighbours as taught in Christianity but in terms of the entire cosmos. Man is not different from an animal. The conscious element is the same. Destruction to others is self-destruction. Death is not the end but a new beginning with a new vitality. Karma is the strength of a colour to rise or fall in the scale of evolution. Karma follows a colour through birth and rebirth and ceases when the colour has realised its true nature. No action done is ever lost and nothing done will ever come to be.

As every colour must realise its true nature there is possibility for self-realisation. Mere knowledge will not do, but constant action is necessary. Yoga path is prescribed to reduce the interacting colours on

ones mind, to a state of samadhi where the mind's colour of the subject will be in direct communion with the divine 'Light'.

Thus 'Light' is the Purusha and colours are the Prakrti. Purusha is the mother of Prakrti and Prakrti is the mother of the world, but neither Purusha and Prakrti, nor Prakrti and the world are different as cause and effect. The identity and difference can be illustrated by a crude analogy of a flower and its colours, or in the familiar way as mind and knowledge and eye and its light. Being is not different from Becoming. Something cannot come from nothing is the watchword. If the colours of the world are taken away one after another until the last rose by becoming paler, and paler has lost its entire colour and became invisible, every lily lost its whiteness, every lady her charming colour, the sun its blazing rays, the moon its refreshing light, the stars their twinkling, and all organisms their living light, a state will reach to lose itself into a big void. Where can the void exist and how can it be determined by any one without self-contradiction? It is in the Ultimate 'Light' that the colours sink and from it they rise, for something cannot spring from a void. The 'Light of Brahman' radiates in a holy march of gracious colours to reveal Itself in the white peaks of the Himalayas, the green valleys of the Merus, the bountiful plains in a panorama of evergreen trees studded by picturesque flower beds and yellow corns in the fertile fields fed by the Ganges, the Jamna, and the Cauvery. The spectacular *aurora borealis* and the great arch of seven colours in the rainbow dividing the sky reveal not themselves but he 'Light of Heaven'. Spinoza, in the opening sentence of his De Intellectus Emendatione says, "After experience had taught me that all the usual surroundings of social life are vain and futile; seeing that none of the objects of my fears contained in themselves contained anything good or bad, except in so far as the mind is affected by them, I finally resolved to enquire whether there might be some real good having power to communicate itself, which would affect the mind singly, to the exclusion of all else; whether, in fact there might be anything of which the discovery and attainment would enable me to enjoy continuous, supreme, and unending happiness". The above is a rough approximation of the feeling of a Hindu. As the very embodiment of a supreme spirit of tolerence, every Hindu is a potential saint be he the remote vedic sage, or the present day commoner.

TRIBUTE TO THE ALMA MATER*

SHRI RASTRAPATI, MR. PRO-CHANCELLOR, MR. VICE-CHANCELLOR, YOUR HIGHNESS, LADIES AND GENTLEMEN :

I have been asked by the Honorary Secretary to pay a brief tribute to our Alma Mater. I think I cannot do better than tell you in what respects the Central Hindu College was different from other educational institutions and what prompted Dr. Besant to establish a new educational centre when there were so many others in the country. At that time Religion was not a subject taught in our schools and colleges except in the mission schools and our young students knew very little about Hinduism and were not conscious of the fact that they had just cause to be proud of their religion, philosophy, culture and rich heritage. Dr. Besant's idea was to revive the consciousness that we should be proud of the culture and philosophy of our country and know what Hinduism stood for. Dr. Besant, therefore, wanted that Religion should be a compulsory subject and the students of the Central Hindu School and College should learn the basic principles of Sanatan Dharma. She further wanted that the students trained in the institution should not only know what Hinduism was and stood for, but should also learn the basic unity of all religions. She wanted to inculcate in them respect not only for their own religion but also for the other great religions and bring about a fusion of the best in the East and in the West. In our country we have never tried to dragoon religious beliefs and canalise them through fixed or inflexible channels. In India no attempt was ever made to control the ethical beliefs and thoughts of the people, with the result that we have had by far a larger number of saints and seers than any other country in the world, and great minds have always had here a free scope to develop according to their own ideologies and they have left for us a tremendously rich heritage.

If I may be allowed to say so, it is necessary for the future well-being of our State that in our schools and colleges Religion is made a compulsory subject. The students should not only be taught their own religion but they should be made to learn the essential principles of other religions also so that they may realise the basic unity of all religions and have respect for them all. Prejudice is always born of ignorance and unless this ignorance is replaced by knowledge the prejudice shall persist and lead to a self-complacent and narrow outlook.

The next point on which Dr. Besant laid great stress was that not only should we have respect for all religions but we should also rise above

*Speech delivered by the Hon'ble Mr. B. Malik, Chief Justice, Uttar Pradesh, on the, occasion of the Golden Jubilee of the Central Hindu College, Banaras Hindu University on November 15, 1952.

petty social prejudices and learn to appreciate other peoples' viewpoints. So long as she was connected with this institution we had a boarding system and students of any class or creed could dine together at a common mess and in a corporate spirit. During her long association with the institution, so far as I know, no objection was ever raised, but soon after she had left the common mess was given up.

The third point on which she laid stress was that for a successful ending of all good work you need the help of the Divine hand and we were taught to start our work in the morning every day with a prayer.

The next point, again, on which stress was laid was that all corrections and all improvements must come from within by our self-realisation of our mistakes or shortcomings and not be imposed from without by fear of punishment. Punishment as such was therefore taboo and the delinquent was given a talking to and in most cases it had a more lasting effect.

Lastly, she tried to build up an idealism in the minds of the alumni of the institution by getting round her a band of enthusiastic self-sacrificing men and women, who by their character, learning, ideology and personality, inspired those who came in contact with them. Of that gallant band we have, I am sorry to say, only a few now left in our midst. Dr. Bhagwan Das is happily in our midst today and I hope he will not mind a personal reference but I can never forget the feeling of reverence that was inspired when men like him lectured to us and we could realise what the Brahmacharis in ancient India must have felt when our ancient Rishis lectured to them on Arts, Sciences, Philosophy and Religion.

The ideals of Dr. Besant soon had the desired result and helped in changing the outlook of the educationists in India and attention started being paid to character building, an aspect which had been completely neglected before. I wish we could again have educational institutions with workers like Dr. Besant, Dr. Richardson, Dr. Arundale, Dr. Bhagwan Das, Professor Shyama Charan Dey, Pandit Iqbal Narain Gurtu, Mr. P. K. Telang, Dr. Sanjiva Rao, Mr. Bertram Keighley, Dr. Taraporewala, Professor Wodehouse, Principal Phanibhusan Adhicari, Professor Trilokikar, Professor Rane, Professor P. K. Dutta, Professor Bireshwar Banerji and others to mould the character of the future generations.

How far Dr. Besant succeeded and how far her ideals have been fulfilled is for others and for posterity to judge. My fervent prayer is that Dr. Besant's ideas and ideals should survive and the Central Hindu College should continue to inspire the future as it has inspired the past generations.

———

HORIZON EXPLORED

Shri V. R. P. Rao

Goodnights, I know, are merely conventional; still I was carried away to think deeply when a friend bade me 'goodnight' that evening. I don't know why I wanted to see if that bidding were to prove true to its sense.

Yes, it is true; my night was really good that day. As I stepped into my bed, I dreamt a very nice dream which rendered my night 'good'. I am very glad to have performed an adventure at least in dream.

All of a sudden one day, I wanted to become very great by effecting a great adventure. For this I chose an explorer's profession. After a deep deliberation, I jumped to a conclusion that a journey to horizon would be best suited for my enterprise. I didn't wish that reputation should be divided; all the fame should accord to me. So I determined to start singly, and on a fine auspicious day, I started on my life's immortal journey.

The only things that I had taken with me were a pen and a note-book in order that all that might be noticed during my travel could be recorded.

Knowing full well that any way followed straightly would lead me to my destination, I took up a direction and proceeded. All the while I travelled, my mind was transported to those days of future when all the dailies would publish my name in headlines. I clearly visualized my name written in bold, indelible letters in 'The Book of Time'.

With this added encouragement I walked with quick steps without any frequent stop. I did not feel exertion; I did not mind exhaustion. I walked and walked until the sun began to sink into the west. As the sun gradually faded away, the light began to fail and horizon seemed to have come nearer and nearer. My hopes appeared to bear fruit.

Thus with renewed vigour, I continued till at last the darkness had set in; and the darker it grew, the nearer I found my destination. This further encouraged my pace. When it had grown completely dark, there was, as it were, nothing in front of me. I firmly believed that I had reached horizon. I felt extremely glad. I praised my fortune and my audacity. I wanted to take rest for that night so that the next morning I would be able to record all facts concerning horizon.

So, I spent my night in endless imagination of the fair renown awaiting my adventure. But as the day dawned, to my utter disappointment,

I found horizon to have gone as far as ever. This verily discouraged my spirit and I was no longer in a mood to continue my journey. But yet I did not want my enterprise to turn to this end. So I wanted to note down some falsehoods that would very well persuade people into the belief of my approach to horizon. I wrote thus:

"I was very much intent upon reaching my destination. So the much of vigour and enthusiasm with which I travelled I cannot possibly explain.

"As I proceeded thus for days together making an occasional halt here and there, I was at last emboldened by the sight of some unnatural occurrences which assured me of the nearness of horizon.

"To my great astonishment, I noticed gigantic tortoises running with high speeds, unnaturally entering into and emerging out of the earth. Funnily enough, when I was surprisedly walking, I felt some movement underneath my feet. In the next moment, I was like the god of tortoises riding over a huge tortoise carrying me very fast. I feared nothing; but thought that would be the best vehicle to reach my destination earlier. But soon the animal took me into a pond where it drowned never to come up. I was left floating in the water. Slowly, I got to the shore and resumed my journey.

"Next were seen colossal fishes jumping long and high on the ground. As I ventured to cross the region, unfortunately for me, a huge fish fell upon my cheek. The blow of its fall was so hard that I could not but collapse down to the ground.

"There after.................."

When I was thus writing unceasingly, my dream was disturbed and I woke up from my sleep. Lo, I was just the same as I was when I went to sleep.

"So pleased at first the towering Alps we try,
Mount o'er the vales, and seem to tread the sky;
Th' eternal snows appear already past,
And the first clouds and mountains seem to the last;
But those attained, we tremble to survey
The growing labours of the lengthened way,
Th' increasing prospect tires our wondering eyes
Hills peep o'er hills, and Alps and Alps arise."

—Alexander Pope.

SOME ASPECTS OF INDIA'S FUEL PROSPECTS AND EDUCATION FOR THE FUEL INDUSTRIES

Prof. V. G. Iyer

'Produce or perish' was the cry of the late Sardar Vallabhbhai Patel. The Five Year Plan of the National Government aims among other things at the expansion of the key and the basic industry of iron and steel. Both the Tata Iron and Steel Co. at Jamshedpur and the Indian Iron and Steel Co. at Burnpur are expanding their works to increase India's annual output of steel from about 1,000,000 tons to 1,500,000 tons. This large expansion necessitates the construction of coke ovens and blast furnaces, production of pig iron being the first step in the production of steel and increased production of pig iron is only possible with increase in the manufacture of coke. Of the major raw materials required for the manufacture of iron, namely, iron ore and coking coal, the position with regard to our resources was stated by the late Sir Ardeshir Dalal in his presidential address to the 28th Session of the Indian Science Congress. He said, "While the position regarding iron ore is highly satisfactory, that regarding coal, particularly the coal required for the smelting of the iron ore is far from satisfactory. On the existing methods of working coal, the total life of the coking coals of India is estimated at about fifty years".

The remedies that have been proposed to avert the serious situation that will arise in the course of the next ten years are two :—One is the conservation of the supplies of coking coal by exclusively using them for the iron industry only, withdrawing such supplies from use for steam-raising, thus extending the life of the available resources. The other remedy, proposed and adopted to a certain extent, is in drawing upon the non-coking coal supplies of which the resources are large. The non-coking coals can be made to do service for coking coals only in admixture with the coking coals. The proportions in which blends of the coking with the non-coking coals are effected to yield a coke of satisfactory quality for use in the iron blast furnace are ascertained by elaborate investigations. The following are indicative of the properties desired in a coke for metallurgical use :—

Specific gravity (true) ... 1.75 – 2.0
Specific gravity (apparent) ... 0.75 – 1.1

Shatter Index (per cent remaining on a 2″ screen when a 50 lb. sample is dropped four times from a height of 6′ on to a steel plate and then sieved) 80-90.

Reactivity Number 60-80. This is defined as the number of millilitres of carbon monoxide at normal temperature and pressure (N.T.P.) when 100 ml. of carbon-dioxide at N.T.P. is passed over coke powder at 950°C.

The most fruitful of the many lines of investigation on coal that have been followed in recent years with a view to isolate the principle which makes coal from one area coke and the absence of which is held responsible for the non-coking nature of coal from a different area, is the solvent method. This is based upon extraction of the constituents soluble in organic solvents like pyridine, benzene, phenol, etc. When extraction is carried out under considerable pressure (250 lbs. per sq. in.), the process is referred to as 'Pressure Extraction'. When carried out at atmospheric pressure, it is referred to as 'simple extraction'. In the case of pyridine, the soluble is separated from the insoluble portion by filtration. The filtrate is further treated with chloroform and filtered when a further division into two products takes place. The terms employed in the literature for designating the different portions will be clear from the following scheme :—
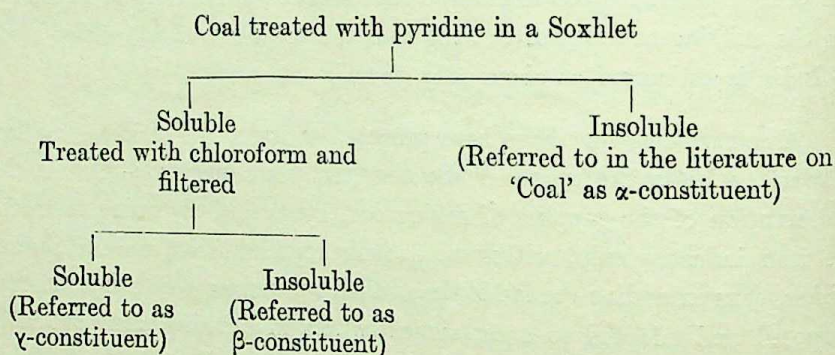
The coking tendency of a coal is associated with the presence of the γ constituent in it. Broadly stated there is an optimum percentage of this constituent necessary to yield a coke of satisfactory quality for use in the Iron Blast Furnace. By effecting blends of the variety of coal having a high percentage of this constituent with one having none of this constituent or only a low percentage of it, it has been sought to extend the life of the limited coking coal resources. It is obvious that no rule of thumb procedure is possible in effecting blends. Laboratory tests must precede the blending operation. It must also be pointed out that the results arrived at with regard to the proportions of the non-coking with the coking in the case of the coals of one area or of one country will not hold good for others

drawn from other areas or other countries. It is this necessity for an examination of the coals of India which was stressed in the address referred to above. The National Fuel Research Institute at Digwadih established in 1950 is actively engaged in tackling this and similar problems.

A striking development that has taken place in the course of the last two years is the installation of two large coal washing plants, one at the West Bokaro Colliery and the other at Jamadoba, at a total cost of about 5 crores of rupees and treating respectively 150 tons and 350 tons of coal per hour. These Washeries supply the washed coal with an ash content of about 15% against an ash content of 23-25% in the unwashed coal. The use of coke made from such washed coal in the blast furnace has led to a considerable saving in the consumption of coke. What this saving means will be appreciated from the following Table: —

TABLE I

Cwts. of coke per ton of iron

American Average	British Average	Indian average using unwashed coal	Indian average using coke from washed coal	India's saving expressed as tons of unwashed coal per annum	Cost of the coal in col. 5
1	2	3	4	5	6
13	15	20	15	360,000	Rs. 5·4 millions

The consumption of petrol for road transport has constantly been on the increase. The consumption which stood at about 130 million gallons in 1938 stands at about 170 million gallons a year at present.

Both in Bihar and in Uttar Pradesh, which have very large areas under sugarcane cultivation, it has been sought to supplement the limited petrol supplies by admixture with alcohol made from molasses, a waste product of the sugar industry. At a modest estimate, 500,000 tons of molasses will be available per annum, which will yield, at the rate of 60 gallons of power alcohol per ton of molasses, 30 million gallons which will be sufficient for admixture with 120 million gallons of petrol for use as fuel in cars and buses. Though only 17.5% of our annual consumption, the

molasses when fully utilised will reduce our dependence on imported petrol supplies. The recent symposium on 'Power Alcohol' held under the auspices of the Uttar Pradesh Government is a step in the right direction and the measures that will be adopted as a result of the deliberations of that symposium are awaited with interest.

The erection of petroleum refineries in Bombay and in Vizagapatam is to be welcomed. But as the only occurrence of petroleum in the Union of India is in Assam, crude petroleum will have to be imported from abroad, which in times of war will make the supplies uncertain and thus affect the safety of the country. In this connection, the lessons of countries like the U.K. and Germany, which are very much like India in regard to occurrences of petroleum should not be lost upon us. At the close of World War II, the Government in the Ministry of Industries and Supplies were actively engaged in plans for the erection of synthetic petrol plants to make oil from coal by the hydrogenation process. On account of natural calamities and the requirement of funds for the import of foodstuffs, the plans could not materialise. But it is hoped that before long, they will materialise and our dependence on foreign supplies either reduced or completely eliminated.

This process of conversion of coal into a liquid fuel contributing to flexibility, ease and efficiency in use may be stated in simple terms as follows :—Liquid fuels in general have a ratio of carbon to hydrogen as 8:1 whereas the ratio of these two elements, in the case of coal, is 16:1. The conversion of coal into oil, it appeared, would become possible by enrichment of the coal in hydrogen in the presence of a catalyst under suitable conditions. The idea, first conceived by Bergius of Germany in 1910, and experimented upon on a Laboratory scale for 10 years, took practical shape both in that country and in England. The plants started operation in 1924 in Germany and only in 1936 in England. This process has been named Beriginisation and the inventor Bergius was honoure for his invention by the award of the Nobel Prize in 1936.

There is one other process of converting a solid into a liquid fuel which must here be noticed. This consists first in the production of water gas which is a mixture of carbonm onoxide and hydrogen and then passing it at normal pressure over cobalt-chromium oxide maintained at 270°C. as catalyst. The product obtained is a liquid fuel. The reactions may be represented by the following equations :—

$$n\ CO+2nH_2 \rightarrow CnH_{2n}+nH_2O$$
$$n\ CO+(2n+1)H_2 \rightarrow C_nH_{2n}+2H_{2n}+2+2_nH_2O$$
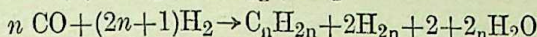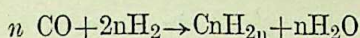
This process is known, after the originators, as the Fischer and Tropsch process. In 1938, the output in Germany by this process was 1.6 million tons, that is, about 480 million gallons.

Four tons of coal are required for the manufacture of one ton of fuel oil by the Bergius method. The fuel oil contains only 40 to 45% of the heat energy stored in the coal used. The recovery in the Fischer-Tropsch process is less, being about 25% only of the heat energy in the coal used in its production. The great advantage of the Fischer-Tropsch process lies in the fact that it can be carried out at comparatively low temperature and at atmospheric pressure, whereas the Bergius process requires the employment of steels which will, at temperatures of the order of 400°C. withstand a pressure of 250 atmospheres. On account of the difficulty of obtaining such equipment at the present time, the conditions are more favourable in India with regard to the erection and operation of a plant worked by the Fischer-Tropsch process.

Another development in the industrialisation of the country is the proposal to install a gas-grid for the supply of what is termed 'fuel-on-tap' for the city of Calcutta at an estimated cost of about 8 crores of rupees. The present methods of making soft coke for domestic purposes for use in the cities are wasteful and the supply of 'fuel-on-tap' is intended to prevent the wasteful methods while at the same time preventing the smoke nuisance which is tending to play havoc with the health of city-dwellers. The proposal, when it takes shape, will require both for its execution and maintenance personnel trained in Fuel Technology. The experience of the Iron and Steel Industry in importing technically trained personnel and the consequent inability to compete with the imported material for a long time after the inception of the industry, should not be lost on us. Here and now, the country must prepare for the demands that will be soon made on it.

The developments referred to above, the installation of two coal washeries, the erection of coke ovens by the Tata Iron and Steel Co., the Indian Iron & Steel Company and the Sindri Fertiliser Plant, the establishment of the National Fuel Research Institute, the gas-grid, etc., will require technically trained personnel to man and operate them efficiently and not at unduly heavy cost. It was this unduly heavy cost in importing technically trained foreign personnel for operating the several units of the Iron and Steel Works

from its inception in 1911 to about 1936, for nearly a quarter of a century that was responsible for its inability to stand competition with imported iron and steel from countries which were not so fortunately placed with regard to the abundance and excellence of the major raw material namely. iron ore. The reports of the Tariff Board Enquiry Committee for the protection of the Iron Steel and Industry point to the employment of imported technical personnel as one of the reasons for the increased cost of production. It required the foresight, vision and imagination of men like the late Pandit Madan Mohan Malavayaji who gave the first place to the colleges of Engineering, Mining and Metallurgy, and Technology in his scheme for the establishment of the Banaras Hindu University, and the late Sir Dorab Tata who played an important part in the setting up of a Technical Training Institute at Jamshedpur for the training of officers of that great works. The Vice-President of the Union Sir S. Radhakrishnan during his Vice-Chancellorship of this University, after an assessment of the educational requirements on its technological sides by visits to the works of the Tata Works and after holding consultations with its management saw the wisdom of creating a Department of Fuel Technology at this University and recommended its creation. The then Visitor of the University was Sir H. P. Modi, the Governor of Uttar Pradesh, and he readily accepted the recommendation of the Senate of this University for the creation of the Department of Fuel Technology. It is forgotten that he is one of the very active Directors of the Board of Directorate of the above Works and is fully alive to the needs of the country in the Technological field. The reports of the Tariff Board also stressed the necessity for cutting down the coal consumption in the industry, which stood at an average of 4 tons of coal per ton of finished steel as against $1\frac{1}{2}$ tons of coal per ton of steel in England and the U.S.A. in an integrated works of the size of the Tata Works. A direct result of the findings of the Tariff Board Enquiry Committee is the setting up of a Dept. of Energy and Economy under the able guidance of a Fuel Technologist who has been steadily pursuing measures to cut down fuel costs in this Industry. At the symposium held last October, under the auspices of the Mining, Geological and Metallurgical Institute of India, emphasis has also been laid on the necessity for the training of Fuel Technologists.

While conceding the necessity for the imparting of instruction at University level in Fuel Technology, those in authority feel that the resources of this University will not enable it to run a full-fledged Department of Fuel Technology and that it should run as a constituent Department of

the College of Technology (Chemical Engineering). In this connection, the policy of reconstruction in technological education followed by the British who were our models has its lessons. The Commonwealth Universities' Year Book for 1952 shows that the strengths of the teaching staffs of Technological Departments of the different British Universities are more than double of what they used to be before World War II. In the face of these developments, it is difficult to understand the criticism which finds fault with a detail here and a detail there in the present set-up of the administration of this University. (The Department of Fuel Technology of this University avails itself fully of the facilities of the Engineering College and of the College of Technology of this University).

A perusal of the Commonwealth Universities' Year Book for 1952 shows that the practice of British Universities is not uniform in regard to the courses in Fuel Technology. At the Leeds University, the Department of Technology wherein instruction in Fuels is imparted is known as 'the Department of Coal Gas and Fuel Industries with Metallurgy'. At the University of Sheffield, the Department of Fuel Technology has a separate and independent existence, although there is a Department of Metallurgy. But at the University of Manchester, a full-fledged degree course in Fuel Technology under the aegis of the Department of Chemical Engineering is there. It is not necessary to give further examples of British practice. What is important is that once the need is felt for the imparting of instruction in a particular field, arrangements should forthwith be made. This our University has done. What is now required is that within the framework of its autonomy, it should be allowed to function without unpleasant and discouraging reminders. The times call for a bold policy of educational reconstruction and expansion. The nation is on its trial and it is hoped that in the fulness of time the policy that it being pursued now by this great University will bear as rich a fruit as its policy in the past has borne.

FUNGI AND THEIR IMPORTANCE

Dr. R. Y. Roy

Macrofungi have been used for food or noted in other ways by man for hundreds of years but it was not till about 1700 that any serious attempt at their investigation and classification was made. The use of yeast, mushroom, and Penicillin is so common these days that every one is now familiar with a fungus or its product.

Fungi are those groups of plants which lack chlorophyll and on account of this fact their mode of living is different from that of other plants. In the absence of chlorophyll, which is responsible along with other factors for manufacturing the food of the plant, fungi depend for their subsistence on others. The latter may be living or dead objects. Fungi living on the former type of objects are known as "Parasites" while others are known as "Saprophytes". All fungi with a few exceptions reproduce themselves by spores which are usually oval or elliptical in shape but sometimes spherical or spindle shaped. The spores are undivided in the majority of cases, though they may have transverse or, very rarely, longitudinal septa also. The spore germinates when it gets suitable conditions, *i.e.*, moisture and temperature (optimum 20-28°C.) and gives rise to germ-tubes, which by apical growth becomes a long thread-like hypha. By continued growth, branching and anastomosis an intricate mass of hyphæ is formed which is known collectively as a mycelium. The spores are dispersed mainly by wind and are found even at very high altitudes. Many of the spores, though they do not seem to have any special adaptations, can withstand very severe conditions. For example, spores of a mould fungus, *Byssochlamys fulva* (responsible for disintegration of canned fruits) cannot be killed even at a temperature of 75°C.

All saprophytes, in order to obtain their food supply, decompose organic substances and make them available to the green plants. Fungi and bacteria, therefore, are considered scavengers as well as saviours of the society. True fungi are known as 'Eumycetes' and it is presumed that their number is about 100,000 on the surface of the earth. The number of individual fungi is very great, e.g., in 1 gm. of soil there may be 100,000 or more living fungus spores and bits of mycelium and even greater number of bacteria.

Many fungi are not only edible but are considered in many countries an important food. Out of *Basidiomycetes* (a group of fungi characterised by having basidia), species of *Agaricus* popularly known as muchrooms, *Cantharellus, Coprinus, Lepiota, Marasmius, Tricholoma, Lycoperdon*, and *Boletus* are used as food, while from the *Ascomycetes* (another group of fungi characterised by having asci), various species of *Tuber* popularly known as truffles ; *Terfezia leonis*, known as Kames in the Near East and Terfez in North Africa, which was known even to the Greeks and Romans in the remote past ; species of *Cyttaria* parasitic on *Nothophagus* in the southern hemisphere ; *Gyromitra* and *Morchella* are used. The edible portion in all the foregoing fungi is generally the fruit body, but in *Polyporus mylittae*, known as "Blackfellows" bread of Australia, which weighs about 15 killogramme, in *Poria cocos*, known as "Indian bread or tuckahoe" of America, and in the species of *Lentinus* which weighs nearly 25 lbs., it is the sclerotium which is eaten, while in Formosa young *Ustilago esculenta* in *Zizania aquatica* (Canadian rice) is used. Yeast after *autolysis* (under the trade names Marmite, Vegex, etc.) is used as food by man and dry yeast such as *Torulopsis utilis* is also coming into use. Some of the agarics are poisonous and many deaths are caused by using them indiscriminately. Poisonous species are *Amanita phalloides, A. verna, A. virosa, A. muscaria* (the fly-agaric), *A. pantherina, Entoloma lividum* and *Tricholoma tigrinum. Gyromitra esculenta*, mentioned above, has a haemolytic poison, but if the fruit is cooked without water or cooked after drying it is harmless. Many animals are fond of fungi. Squirrels even store fungi in cold climates where they are not likely to putrefy. Deer, badgers, pigs, and lizards also eat fungi. Cattle often eat *Boletus*, but dogs and cats eat only cooked fungi. It is strange that slugs thrive on *Amanita phalloides* which is deadly for human beings.

Since fungi are now used in a great number of industrial processes, Industrial Mycology is, therefore, assuming great importance. Some of the important substances produced by yeasts are ethyl alcohol, fat (lipoids), and glycerol. Ethyl alcohol is produced from sugar or after hydrolysis from starch or cellulose by *Saccharomyces cerevisiae*. The process is known as alcoholic fermentation. Different types of beer, wine, and spirit are all due to the activity of yeasts. The fat (lipoids) are due to *Endomycopsis vernalis* and *Oospora lactis* (*Fungi Imperfecti*). Glycerol is produced by *Saccharomyces cerevisiae var. ellipsoideus* by the sulphite process. Besides the above, yeasts are used for making bread. The species concerned is the same but it is variously named, *e.g.*, baker's yeast, brewer's or beer-

yeast. The most interesting development in recent times in the field of baker's yeast production has been the large-scale production of active dried yeast. During the war, enormous amounts of this material were required by the armed forces for overseas use. The active dried yeast now on the market has roughly 80 to 85 per cent of the activity, on the dry basis, of a good fresh baker's yeast, and keeps for months without referigeration. It has been found that active dried yeast is more economical than fresh yeast.

Recently a process for the continuous production of food yeast from molasses has been developed. The process was designed for use in Jamaica, the yeast to be added to the flower consumed on the island as a vitamin and protein dietary supplement. Two new strains of *Torulopsis utilis* were developed. One *T. utilis var. major* has a large cell size, which facilitates filteration or centrifugation operations. The other, intended for tropical use, grows well at 39°C., thus simplifying the cooling problems that arise in locations where low-temperature cooling water is not available. In pilot plant work, it was found possible, on a molasses-phosphate-ammonia medium containing 4.5 per cent sugar, to carry out a single-stage continuous fermentation without the loss of appreciable carbohydrate in the effluent. In a holding time of four hours, a yield of dry-yeast equal to 60 per cent of the added sugar was obtained.

Other important products of fungi are citric acid by *Aspergillus*, *Penicillium*, *Mucor*; fats by *Penicillium*; fumaric acid by *Rhizopus* and other Mucorales; gallic acid from tannin by *Aspergillus niger*; lactic acid by *Rhizopus*. *Aspergillus* is required for producing Japanese sake (rice wine), Shoyu (soy sauce), Miso (soy cheese) and enzyme mixtures such as takadiastase. Micro-organisms help in the making of cheese, some of which have their characteristic fungi, *e.g.*, Camembert has *Penicillium camemberti*, Roquefort has *P. roqueforti* and so on.

Many of the higher fungi live in association with the roots of forest trees. This is known as mycorrhiza. There is a difference of opinion whether the association is a symbiotic one of use to the two organisms or it is an example of a limited parasitic attack having no mutual value. Notwithstanding this difference of opinion two examples can be cited where the presence of the fungus is indispensable if the plant is to survive. Seeds of some orchids can germinate only when they are associated with a particular fungus. Ling (*Calluna*) cannot produce a root except when the fungus is present.

It should not be assumed by what has been written in the foregoing pages that fungi are only beneficial and not harmful. As a matter of fact it is difficult to find a plant either in a fruit or a vegetable garden or a field which is free from the effects of a fungus. The fungi are ubiquitous and attack all sorts of plants. Some of the important diseases caused by them are known as Smuts, Rusts, Downy mildews, and Powdery mildews. All these diseases are very common in our country and the enormous loss caused by them to our crops and vegetables is beyond conjecture. One example would be sufficient to prove the colossal loss which our country suffers on account of rusts which attack wheat and barley. It has been estimated that the damage caused to wheat and barley normally, for the revised acreage after the partition of the country and at current prices, would come to more than 200 million rupees per year. The epidemic of 1947 was a national disaster resulting in the loss of nearly 2 million tons, according to official report. Other groups important as plant pathogens are the Hymenomycetes (frequently attacking wood), Ascomycetes and especially the Fungi Imperfecti. Out of the wood-attacking fungi *Merulius lacrymans*, known as Dry Rot or "House" fungus, is very damaging to building wood and as a result the whole building, sometimes, collapses. It is very common in countries of Europe. Though fungi attack wood yet sometimes they make it very valuable, *e.g.*, *Fistulina hepatica*, the beef-steak fungus, stains the wood of oak and thereby makes it very valuable ; *Chlorociboria aeruginosa* (generally named as *Chlorosple ium aeruginosum*) a member of the Ascomycetes, stains hardwoods of deciduous trees green which are used for making "Tunbridge Ware". Black spots on clothes in the rainy season in our country are things with which every one is familiar. They are caused by *Aspergillus*, *Penicillium*, *Cladosporium*, etc.

Not only do fungi attack plants, they attack animals and men too. Species of *Empusa* are cosmopolitan on flies, aphids, grass-hoppers, etc. ; *Myrangium*, *Hypocrella* and its *Aschersonia* states, *Sphaerostilbe*, *Beauveria*, etc., are some of the important entomogenous fungi. Advantage of the latter is taken in protecting plants from the attack of insects by spraying spores of the fungus, *e.g.*, spores from cultures of *Aschersonia* are sprayed against the attack of white fly or scale insects. Fungi are the cause of a number of different diseases in man especially in hot countries. The pathogenic species mostly belong to Fungi Imperfecti but some are of other groups. They are known as medical fungi. The diseases caused by them are dermatophytoses or mycoses. In the former are included ringworm, tinea, athlete's foot, Hongkong foot, dhobie itch and in the latter are included

diseases of respiratory tract, skin, nail, ear, lung, etc. Mycoses are frequently named after the part attacked, *e.g.*, broncho-mycosis, dermato-mycosis, etc., or after the pathogen, *e.g.*, actino-mycosis, coccidioido-mycosis. Spores of moulds, *e.g.*, *Alternaria*, *Aspergillus*, *Cladosporium*, *Hormodendrum*, *Penicillium*, etc., and cereal smuts and rusts in the air are sometimes the cause, by allergy, of asthma and hay fever. Many of the fungi are used in medicine though the British Pharmacopoeia has got only one fungus product called ergot, the sclerotia of *Claviceps*. Some species of *Elaphomyces* have been used since the middle ages as an aphrodisiac in folk medicine. *Fomes officinalis* is used as a purgative and *Lycoperdon* spores and capillitium were formerly used for stopping blood from wounds.

Sometimes the product of a fungus is damaging to the growth of other micro-organisms. This is known as antibiotic. The great microbiologist S. A. Waksman defines antibiotics as substances produced by micro-organisms and capable of inhibiting or destroying other micro-organisms. The greatest achievement of the twentieth century has been the discovery by Sir Alexander Fleming of Penicillin produced by a fungus, *Penicillium notatum*. Though the discovery was made in the year 1929 yet it was not till 1940 that its chemotherapeutic value was established at Oxford by Sir Howard Florey and his co-workers. Penicillin is a substance which has no toxic effect on leucocytes or other cells of man but stops the growth of Gram positive bacteria, such as *Staphylococcus pyogenes*, at 1 part in 1 to 2 million. During the World War II Penicillin was responsible for saving thousands of lives. It is produced on a very large scale on account of its very vast use, *e.g.*, 25.8 trillion units of Penicillin were produced in 1946 and by now the production must have doubled at least as a number of factories for producing the same have been started in countries other than America. Space does not permit discussion of the incalculable service rendered by Penicillin in the treatment of various diseases. Besides other things Penicillin has established itself as an effective agent in the treatment of syphilis.

There are a lot of other antibiotics from other moulds, *e.g.*, aspergillic acid, chaetomin, claviformin (also known as clavicin, clavatin, patulin and expansin), gliotoxin, etc. There is only one inhibitory agent produced by a *Phytophthora* or *Pythium* sp. which inhibits the growth of *Trypanosoma equiperdum* in the laboratory but has little or no effect on *Escherichia coli*, *Bacillus subtilis*, and *Sarcina lutea*. Extracts from *Basidiomycetes* have also been found antibiotic, *e.g.*, (i) Polyporin, an extract from *Polystictus sanguineus*, discovered by S. R. Bose of our country, has been found non-toxic to guinea pigs and rabbits but effective in protecting the former against

lethal doses of *Vibrio cholerae* and *Eberthella typhosa*; (ii) Clitocybin, an active agent from an edible fungus *Clitocybe candida* or *C. gigantea*, has been shown to be remarkably active against *Mycobacterium tuberculosis, Staphylococcus aureus, Escherichia coil*, etc. Many important antibiotic substances, e.g., Streptomycin, Aureomycin, have been discovered from organisms which are more akin to bacteria than to fungi but they are not being discussed here as we are concerned only with the importance of fungi. Much work has been done on antibiotics produced from various strains of fungi, actinomycetes, bacteria which would inhibit the growth of micro-organisms attacking men or animals but not much has been done to study the effect of the antibiotics on fungi which are inimical to plant growth. During the last few years antibiotics have been tested for the same and it was found by spore germination test that *Botrytis allii, Fusarium coeruleum,* and *Penicillium digitatum* were inhibited by gliotoxin at 1 to 30 μg. per c.c.; by viridin at 0.003 to 0.2 μg. per c.c.; by gladiolic acid at 4 to 16μg. per c.c. and by glutinosin at 0.8 to 25 μ g. per c.c.

Many important pigments are produced by fungi, *e.g.*, Helminthosporin, Catenarin, Cynodontin, Auroglaucin, Boleton, etc. The Chinese red rice (angkhak) used for colouring food is made by the growth of *Monascus purpureus* on wet rice grains. Besides, starters which are used in the industrial processes are mixtures of fungi. Uses of fungi are too many to be enumerated in an article of this type.

As the damage done to plants is enormous, different methods are employed in advanced countries to prevent the loss otherwise with the growing population it would be difficult to meet the requirements of people. This is known as control of plant diseases and is usually done by fungicides (substances causing destruction of fungi). The methods of treating plant and animal diseases are necessarily somewhat different because of the morphological and physiological differences between plants and animals but their object is the same—the prevention of disease by restraining or eliminating the cause of disease and the curing of diseased organism by destryoing or inhibiting the causative agents, without injuring the diseased plants or animals. The principal methods in the control of plant diseases caused by fungi are:—

(1) Spraying or dusting—Common ingredients of sprays and dusts are chiefly copper and sulphur. As for example, Bordeaux and Burgundy mixtures, Chesunt compound, Cuprous oxide and different colloidal copper compounds; sulphur, colloidal

sulphur, lime-sulphur. Besides these, Salicylanilide, popularly known as Shirlan, chlorinated nitrobenzenes known as "Folosan" or "D.B. 905" etc. are used. The subject of fungicides is so vast that any one particularly interested in the subject is advised to refer to Martin's book "*The Scientific Principles of Plant Protection*" and that of Horsfall "*Fungicides and Their Action*".

(2) Seed treatment—Soaking of seeds in solutions of chemicals. Ordinarily formaldehyde and organic mercury compounds are the ingredients in such solutions.

(3) Eradication—The removal and destruction of infected plants.

(4) Quarantine—The regulation of traffic in plants between areas with certain diseases and other areas in which those diseases have not yet appeared.

(5) Breeding of resistant varieties of crop plants—This method of control has been singularly effective in many species of plants. Fungus species, like higher plant species, vary a great deal, some individuals of a species being more vigorous and more virulent than others. As a result of this variation and also of hybridisation and mutation among fungi, new races or strains of fungi are continually appearing, just as new types of plants develop among higher plant species. As resistance varies among host varieties, so virulence varies among pathogens, thus it is impossible to develop varieties of crop plants which remain permanently resistant to particular fungus diseases.

Antibiotics and antibiosis can be of use in controlling plant diseases but for practical disease control antibiotics have to compete with other pesticides with regard to effectiveness, non-toxicity to plants, and cost. Exploitation of antibiosis for disease control must be based on investigation of the individual diseases, correlating etiological and ecological relations of the pathogen. Control of plant diseases by antibiosis and antibiotics opens a vast field of study for developing agriculture.

———

NITROGEN FIXATION—A BIOLOGICAL PHENOMENA

SHRI V. N. CHOUBEY

Nitrogen is one of that important elements which go to constitute the plant and animal body. It is the building element of protein and similar other complex organic compounds. It has a marked influence on the growth of any organism and in its absence a complete and perfect growth is always lacking and at the same time the organism concerned becomes pale-yellow.

The importance of this element and its presence in the soil for marvellous growth of cultivated and other similar plants was vivid even in the days of yore. The earlier chemist, in order to solve this problem of fixation of this element from Atmosphere and other sources and to get artificial mannures having high percentage of Nitrogen, developed many methods from time to time and these processes are still applicable in general use according to their relative merits and demerits. Out of these four methods are of importance and noteworthy. They are :—

(i) Serpeek's Process.
(ii) Birkeland and Eyde Process.
(iii) Haber's Process.
(iv) Cyanamide Process.

During recent years, Plant Physiologists and Biochemists have turned their mind to get help from plants themselves in this problem of fixation. As this phenomenon was studied closely many Biological fixers were developed. The attention was first of all directed to this branch of study on account of the consideration of Leguminous plants. They bear nodules in their roots which is found only in them and not in any other plant. If a balance-sheat of Nitrogen relation of these plants and soil is kept and examined closely, it will be found that plant gain much Nitrogen than the soil seems to contain it and not only this even the % of Nitrogen in the soil is raised considerably at the same time. By examining these nodules many small organisms were found there and the honour of fixation was attributed to them as well as attention was directed towards other Biological fixers. After a good deal of work, so many groups of lower organisms were found to be capable for this business, some of them by association with the plant and others without any association. The former group was termed as Symbiouts and the other as Free-fixers.

Symbiouts.

The most important among the micro-organism which fix Nitrogen freely without any association with plant are the members of the genus Rhizobium. They are also known as Legume bacteria. They vary in shape but generally they are rod-like. They enter into the roots of Leguminous plantlike bean, alfalfa etc., through root hair. When they are within the limits of roots, they produce nodules which are the collections of groups of giant cells. The nodule contains the bacteria which have raised their number to a considerable extent. Thus the nodule may be termed as the house of the Symbiout concerned. The bacteria assimilate the free Nitrogen of air and prepare organic compounds of Nitrogen by getting Carbohydrates from host. Some of the organic Nitrogen diffuses into the soil through the cells of nodules while other portion passes to the leaves of plant, *i.e.* host, thus enriching both host and soil side by side with Nitrogen. By this upto 40 to 50 pounds of Nitrogen is added per acre to the soil per year.

Free-fixers.

The groups of Micro-organisms which are responsible for non-Symbiotic Nitrogen fixation are the species of Azatobactor and Chlostridium. Azatobactor is coccus like aerobe while Chlostridium is rod shaped anaerobe. Both are Saprophyte having no connection with plant proper and need an outside source of food material to carry on the fixation process. They absorb the food contained in the soil in the form of carbo-hydrates and assimilate the atmospheric Nitrogen to prepare organic Nitrogenous compounds to enrich the soil and plants as well. Some of the lower green plants also have this capacity. They are the species of blue green algae, *i.e.*, Myxophyceae namely, Anabena & Phormidium. They prepare their own food by Photosynthesis due to the presence of chlorophyll and store Nitrogenous organic compounds in the soil by Nitrogen assimilation. These fixers as we see are relatively more beneficial than Symbiout on account of the fact that they are not dependent on plant concerned for food.

We have recently achieved Independence and in order that we must retain it we must improve the condition of agriculture. These Biological fixers can be of service in doing so and can help a lot in retaining our independence. Moreover these fixers can be had at a small cost and serve the same purpose, as served by artificial mannures, in a better way. The study of these fixers is not developed. There are many members of

Myxophyceae which can serve the same purpose but are still unknow. A few years back Dr. R. N. Singh of our Department had explained that Aulosira—a Myxophyceae have this capacity.

In conclusion, it is quite vivid that India needs these fixers greatly. It is noteworthy that the Government is trying to take good steps in this direction by completing many projects. The attention of New Scientist and the Government as well is directed towards this branch of study, so that these fixers may be developed and may improve the condition of agriculture as well as enrich our Motherland with food grains thereby.

———

Mark Twain once went to borrow a certain book from a neighbour.

"Why, yes, Mr. Clemens, yau're more than welcome to it," the neighbour told him. But I must ask you to read it here. Yoy know I make it a rule never to let any book go out of my library."

Some days later the neighbour wished to borrow Twain's lawn mower.

"Why certain'y," the humourist genially assured him, "You're more than welcome to it. But I must ask you to use it here. You know I make it a rule."

* * * *

Dr. Johnson was told that a certain cynic of his acquaintance maintained that there was no distinction between virtue and vice. "If he does really think there is no distinction between virtue and vice", answered Dr. Johnson, "Why, sir, when be leaves our houses let us count our spoons."

OUR AGRICULTURAL ECONOMY

(A short review of present conditions with suggestions for improvements)

SHRI P. RAMANAND RAO

At present India is undergoing a serious food crisis. A major part of this crisis is man-made due to lack of foresight, thought, and proper planning. It is not late even now to mend them and thus to help the country to enjoy agricultural prosperity in the coming years.

One of our greatest problems of to-day is 'food'. Every year a substantial amount of National Wealth is drained off in importing millions of tons of foodgrains in order to avert famines and semi-starvation, which (wealth) otherwise would have been beneficially utilised in India for many nation-building activities. Every year India experiences some sort of serious natural and biological calamities such as failure of monsoons resulting in wide-spread regional famines, effecting men as well as live tock ; excess of rains resulting in unforeseen floods, thereby washing away all the standing crops and causing immense damage to soil. Besides this, cyclones, earthquakes, locusts, etc., have made India's economy very weak and precarious. The aforesaid unforeseen calamities, though not man-made, could be prevented or successfully tackled if science could come to our rescue.

Where to strike and how to strike is a problem ! Experts have opined that if the lot of the rural population is improved, their attitudes changed, and their standard of living raised, everything would be satisfactory and normal.

The position of agriculture in India is in a pitiable state. The actual tillers of the soil themselves are not getting enough to keep their body and soul together. The yields from their tiny fragmented holdings have declined considerably for one reason or the other, resulting in uneconomic cultivation and deficit agricultural economy, thus bringing up all sorts of difficulties to the farmer. It has been estimated and found out that in only three out of ten years the farmer gets a normal yield ; the remaining seven years the yield is either very low or just enough for his family maintenance, resulting in no surplus for the market. Due to the unstable prices of agricultural commodities the farmer has difficulties in choosing between different crops.

A large area of land now in many parts of India, is being gradually transferred to commercial non-food crops. Unless the conditions of the rural masses are improved, there is no salvation for India. Hence the government has realised the gravity of the situation, though late, and all poss ble measures are undertaken to solve these problems of our agricultural economy.

First and foremost of all is the supply of rural finance. The Indian peasant is always in need of money for productive and unproductive purposes. He needs money to start agricultural operations, i.e., purchase of bullocks, purchase of seeds and implements, etc., without which he cannot begin any operation. He is always at the mercy of the village money-lender who charges exhorbitant rates of interest which the poor farmer cannot repay, thus enslaving the farmer for the rest of his life. "The Indian farmer is born in debt, lives in debt, and dies in debt."

The Reserve Bank of India is giving credit facilities through local Government Organisations, Mortgage Banks, etc. The interest charged is certainly very much less than that charged by 'Sahukars,' but the loans are advanced only for productive purposes, thereby complleing the peasant to go back to the money-lender if he needs money for other purposes , such as, social ceremonies and the maintenance of the family. The delay and legal proceedings involved in obtaining the help is also very cumbersome. The government is trying to remove the bottle-neck by distributing the money through local organisations. But even then it remains a problem.

During the adverse conditions, such as droughts, floods and other unforeseen calamities the government is giving financial help in the form of Taccavi loans. These are of great help indeed. But they are inadequate and involve many more difficulties.

Long term loans are also arranged through the Land Mortgage Banks for permanent improvements such as reclamation, consolidation of holdings, repair or construction of wells, etc. Here again, the poor ignorant farmer cannot make much use of these loans.

Irrigation.

A huge part of canal irrigated area of undivided India has gone over to Pakistan due to partition. So, one can just imagine the magnitude of cultivation without irrigation. Drought has become a common feature in India, particularly after the war. This is partly attributed to the merciless cutting of the forests during the war and after and partly to the challenge of Nature to man.

Dry farming is a common feature in India thereby depending entirely on rain. If the rains fail, crops also fail. Therefore, the Indian budget is named as "Gamble in the monsoon". Manu remarks : Indian agriculture is merely a gamble. It is doubtless to say that if we give better irrigation facilities, we cannot only wipe out the food deficit of 10%, but can also make a comfortably exportable surplus. This is quite evident from the Chinese recovery in food shortage, after her liberation in 1949.

The Government has realised the gravity of the situation and are executing many projects for the same. They are :—

(1) Large river valley projects.

(2) Minor irrigation projects.

Projects like D.V.C., Hirakud, Bhakra Nangal, and the Tungabhadra come under the category of large multi-purpose river valley projects. These are meant for irrigation, flood-control, navigation, fisheries, and hydro-electric power. These projects will take a long time for completion and also a large area of low lying fertile plains will become submerged. But when these are completed, they will bring about a miraculous change in our economy in the area concerned. This can be well seen in T.V.A. of U.S.A. which is the model example for the present day projects. Double cropping (200%intensity) will be the special feature of these projects due to regular supply of canal or sub-soil water. The additional area irrigated when these multi-purpose projects are completed will be :—

1. Bhakra Nangal Project	... 3.5 million acres,	
2. D. V. C.	... 760,000	"
3. Hirakud	... 1094,000	"
4. Tungabhadra	... 719,000	"

As already stated, the completion of these multi-purpose river valley projects will take a lot of time and involve huge expenditure, so the Government have simultaneously taken up many minor irrigation projects. They are of the following nature :—

1. Lengthening the existing canals.
2. Erection of bunds.
3. Repair and renovation of old tanks and wells.
4. Damming the small rivulets and streams.
5. Construction of new wells and tanks.

These are done with the co-operation of villagers. For repair and renovation of old tanks and wells the Government is giving subsidies. Now the Government has focussed its attention on tube wells and Rs. 6 crores in Five Year Plan budget have been allotted to this.

Supply and erection of new pumping sets have become a common feature in the irrigation programme of different states. The extra charges will be charged on the acre basis. Besides this the agricultural departments of different states are advising and supplying improved appliances for lifting water, such as Persian wheel, lift pumps, etc.

Improved seeds.

Ever since the establishment of the Imperial Agricultural Research Institute in Pusa, agriculture in India is being worked out on a scientific basis. Now many more stations have sprung up to conduct research on evolution and multiplication of improved varieties of seeds for wheat, barley, etc., and also on crops like sugarcane, cotton, oilseeds, jute, and plantation crops like coffe, tea. etc. These improved varieties are superior in many respects. They may be the combinations of high yield, disease resistance, better food value, drought resistance, and early maturity. Improved sugarcane, wheat, and cotton varieties are being looked upon with pride and regard by the farmers and are very popular.

Improved implements.

Our farmers are using the same old implements which our ancestors used thousands of years back. Need for improvement was felt long back and Meston plough (Soil turning) was the result of this. Many new tillage implements and irrigational aids have been developed throughout the length and breadth of this country. But the greatest setback here is again the poverty of the farmer, which makes him unable to purchase these things at high costs. Another factor preventing the use of these improved implements is the absence of strong draft cattle. But sugarcane crushers though costly and heavy, have become popular among the farmers due to their higher efficiency. Now tractors and other heavy implements are becoming popular on bigger farms.

Better manures.

It is an undisputed fact that Indian soils are undernourished. There is hardly any manure applied to most of crops. The valuable manures like dung and other organic farm wastes are burnt as fuel due to paucity of alternative cheap fuel. The land is depleted of all nourishment due to continuous cropping. The Government is trying to popularise compost preparations and application of synthetic fertilizers. But the success of the campaign is hardly measurable. Through the Agricultural Department or Co-operative Societies the Government is distributing manures like

Ammonium Sulphate, Super Phosphate, Bone meal and Groundnut cakes at subsidised rates or at cost prices. Large number of farmers are utilising this opportunity. Landmark in the Indian agricultural progress is the new fertiliser factory at Sindri with a capacity to produce 1000 tons of Ammonium Sulphate per day.

Plant Protection Service.

Loss caused to crops by insect pests and diseases in India is equivalent to our food deficiency. The ignorant farmer attributes these calamities to the wrath of God and does not take any curative or preventive measures. To overcome this, all the states in India have organised plant protection services which give immediate advice and help to the farmer in case of any disease out-break. The service conducts curative operations like spraying and dusting with chemicals either free or on nominal rates. Anti-locust operations have been strengthened and organised on a more scientific and modern way.

Livestock improvement.

Lately, livestock has drawn a lot of attention, due to its low productivity and poor draught capacity. This is attributed to poor nutrition, unscientific breeding, incidence of diseases, epidemics, and lack of good breed. India possesses the largest cattle population in the world but at the same time productivity is also lowest. Every year some major calamities like diseases, fodder famines, etc., occur resulting in a heavy toll on our cattle population Many schemes for improvements are being undertaken by the various State Governments. The most important of all is the upgrading of the local stock into a desirable breed by mass artificial insemination and castration of unauthorised stray bulls. Thus by the end of the 6th generation the local cattle population will be changed into desirable breed.

Veterinary aids to rural areas is also being given and in case of sporadic appearance of infectious and contageous diseases the veterinary department sends its men to the villages. Prevention is also done by mass vaccination. In U. P. the Irrigation Department charges special reduced rates for growing fodder, thereby encouraging the farmer to grow more fodder. Co-operative Milk unions have also been started in principal cities of U. P. to supply pure pasturised milk, collected from adjoining villages, thereby offering ready marketing facilities for the surplus milk in the rural areas.

Co-operative Movement.

From 1947 the Co-operative Movement in India has shown tremendous

progress. This is partly due to awakening among the rural masses and partly by better organisation, management, and facilities. The Co-operative societies have been modified to suit the needs of villages. The most striking among them are multi-purpose Co-operative societies, where purchase and sale are done simultaneously. The societies supply seeds, manures, and implements at cost price. Many of the products are marketed through the Co-operative societies. The societies also undertake grading and put the seal on the products (AGMARK), thereby assuring the quality to the consumer.

Panchayat.

Panchayat organisation is intended to create a sense of co-operation, self-help, and consciousness among the vill ge population. Besides working for agricultural advantages to the members it makes the villagers spend less on litigation, settle most of their disputes among themselves without going to higher courts. The results of this experiment are very discouraging, for, it is mostly being misused.

Literacy, Communications, and Afforestation.

Many new schools have been opened in the rural areas after the second World War. Classes are also conducted to educate adults.

Communications and transport are still in an infant stage. During famines the supply of food to the affected areas is very difficult due to lack of roads. Lately, many new schemes have been undertaken to solve communication and transport difficulties. Rural electrification is another feature which is being seriously considered. This will supply power to the villages for lighting, irrigation, and cottage industries.

Due to gradual and reckless deforestation policy, the area under forests has reduced very much in India. The present area under forests is estimated at 230,789 sq. miles which is 18% of the total land area. This is low compared with other countries. To solve this, programme of afforestation has been started with national importance. This is "Vanamahotsav", a national festival, but the success is not appreciable.

Besides all this the Government is tackling many other problems concerning agriculture, foremost is the Land policy of the Government. The age old system of Zamindari has been abolished and the land been given to the tiller. Thus the tiller himself becomes the owner of the land or Bhumidhar. This has resulted in great enthusiasm in the new owners of land. Abolition of Zamindari is termed as a silent revolution.

Five Year Plan and Community Projects.

More than 45% of the budget of this plan is devoted to agriculture, i.e., agriculture, community projects, multi-purpose projects, etc. Cirtics of Five Year Plan have criticised bitterly for spending such huge amount on agriculture and allotting only 6% to the industry. The fact remains that the country has imported on an average about 3 million tons of food in recent years, annually. The total cost of foodgrains since 1948 has been of the order of 750 crores. The following table indicates the fact :—

Year	Import in tons	Hard currency area	Sterling area	From Rs. area	Total
		All in million Rs.			
1946	22.49	289.3	378.2	100.6	761.1
1947	23.34	452.8	455.5	31.6	939.9
1948	28.41	408.6	762.6	126.0	1297.2
1949	37.06	447.1	986.8	12.1	1446.0
1950	21.04	97.8	510.1	190.5	798.4

Five Year Plan has set up reasonable targets in food as well as in raw materials. There will be 14% increment in foodgrains, 42% in cotton, 63% in jute, 12% in sugar, and 8% in oilseeds, if Five Year Plan succeeds. The additional food production target shown above includes the estimated results of supplementary programmes for which provision has been made. Expenditure under Agriculture will be :—

1. Community projects : Rs. 90 crores.
2. Additional provision for minor irrigation : Rs. 30 crores.
3. Additional provision for Grow More Food during 1952-53 : Rs. 10 crores.
4. Programme for construction of tube wells : Rs. 5 crores.
5. National extension service : Rs. 3 crores.

Community projects.

The latest and the most boasted of all, is the Community Projects. This has been termed as, "Fruit of Indo-American co-operation". America's contribution here is only one anna in a rupee, that too in the shape of technical experts and materials. This will be administered jointly. Community projects all over India were inaugurated on the 2nd of October, the day being Gandhiji's birth day. On the whole there are 55 Community Projects in India, excluding Kashmir.

Each project will consist of 300 villages with a population of 200,000 and cover a cultivated area of 150,000 acres. The extension will be in 3 phases, viz., (1) Direct operation, (2) Local operation and (3) Other operations. All the rural problems will be tackled in these areas. But many economists and statesmen have criticised severely and are of the opinion that a unit of 300 villages with a population of 200,000 will be too big a unit and to have close touch with all the people is practically impossible for village level workers who are the pivots of the entire Community Projects.

Summing up, on the whole, India is making tremendous progress in the field of agriculture and earnestly trying to solve the problem of food shortage.

REFERENCES

1. Cohen ... Economics of Agriculture.
2. Charan Singh ... Zamindari Abolition.
3. Gidding ... Principles of Sociology.
4. Hugh, E. M. ... Co-operative movement in India.
5. Mukerjee, R. K. ... Food for 400 millions.
6. Nanavati and Anjaria ... Indian Rural Economy.
7. Narayan Swamy and Narasimhan ... Economics of Indian Agriculture.

AND

Reports of Planning Committee.
Reports of Reserve Bank of India.
Marketing reports.
Reports and publications of Ministry of Agriculture of Govt. of India.
Reports and publications of various States.
Reports and publications of Commerce Ministry, Govt. of India.
Draft Five Year Plan.
Five Year Plan—Summary.
Report of Food and Agricultural Organisation, U.N.O.

———

DEVELOPMENT OF LIGHT MECHANICAL ENGINEERING INDUSTRIES: SCOPE FOR LARGER PRODUCTION IN INDIA

SHRI OMPRAKASH

Large industries are usually in the limelight. Less is heard of the several small ones, whose collective, if not individual, contribution to general industrial progress has been considerable. This is an attempt to assess the situation of some of the important Light Mechanical Engineering Industries in terms of production, imports, and exports and to deduce, from such statistics as are available, the future demand. Data are somewhat scarce. What is available is useful in a restricted field but insufficient to give a general picture.

For an approximate assessment of the position, recourse has been had to the reports of the Tariff Board, the Directorate of Industrial Statistics, Accounts relating to the Foreign Sea and Airborne Trade, discussions with representatives of the Industries and manufacturers' associations. All this notwithstanding, it has been possible to obtain only a general indication of the direction development is taking.

It will be seen that from being a small and rather neglected sector Light Mechanical Engineering Industries are projecting themselves on Indian economy if not on a spectacular scale yet, on a fairly wide-spread basis and provide a substantial volume of employment. Also, it will be apparent that although India can continue to depend upon Western European Countries, especially Britain, for her essential needs in these, the development of local resources calls for special attention. To this task many factories are addressing themselves. They are intensifying their out-put for India, and in some cases overseas markets ; and should an emergency arise production could easily be diverted to defence purposes. In these developments may be found good grounds for a reasonable optimism.

Small Tools.

The term "Small tools" comprises a large variety of tools in general use, including hand tools.

Production before the war was negligible, about 10% of requirements, which were met mostly by imports. The Industry may be said to have started with the establishment of a factory in Bombay in 1937 by the Indian

Tool Manufacturers, Ltd., to manufacture twist drills, reamers, cutters and certain other small tools. Wartime orders to meet the requirements of railways, port trusts, ordnance factories, public utility concerns and engineering firms led to rapid expansion; practically the entire production of the Indian factories was taken up. When, with the coming of peace, orders for war requirements stopped, some of the smaller firms had to close down. Competition from imports increased. The case was referred to the Tariff Board in 1949. The Board reported that the Industry was fairly well established and that it was conducted on sound business lines. It recommended that protection should not be granted by raising import duties but in the forms of restricted imports and reduction in the duty on imports of special steel: an essential raw material. The Government accepted the recommendation. Manufacture of alloy, tool and special steels is a protected industry. The import duty on tool steel now is 31½% preferential and 44-1/10% standard.

The more important producing units are in Bombay, Calcutta, and Hydrabad.

Production.

The accompanying table shows capacity and production in 1948:

Item	Existing capacity Nos.	Production Nos.
Twist Drills	890,000	274,277
Reamers	73,750	29,313
Cutters	—	8,006

Twist Drills.

Statistics for subsequent years are not available for twist drills. Output of these in 1949 and 1950 was 334,000 and 370,000 respectively. By August, 1951, installed capacity for twist drills has increased to 1,200,000. Annual demand in 1951 was assessed at: twist drills 500,000, reamers 30,000 and cutters 45,000. It will be seen, therefore, that potential production of twist drills and reamers exceeds demand. Present installed capacity for cutters is not known. But there is little doubt that it is inadequate and needs to be increased. There are three schemes of expansion under operation. When they are complete, capacity for cuttres is expected to be augmented by 28,000.

Not all types of cutting tools are produced in India. There is no manufacture of hack-saw blades (hand and power generated), band-saw blades, circular saws, tungsten carbidetools, and certain special types of cutters. The Ministry of Commerce and Industry is seeking to ascertain requirements for these articles and to interest private enterprise in their manufacture.

The raw materials required for production are high-speed steel for cutting tools; other alloy and tool steels for precision and measuring tools; carbon steel for certain kind of cutting tools, precision and measuring tools; pig iron and coke for certain kinds of machine tool appliances; furnace oil and certain hardening oils.

The industry requires for full production now 25.0 tons of high-speed steel, 27.5 tons of alloy steel and 25.0 tons of carbon tool steel. All this has to be imported. To tide over possible emergencies, stockpiling of alloy steel is under consideration.

Reporting in 1949 the Tariff Board stated, "The main raw material being high-speed steel the Industry cannot hope to carry on successfully without state assistance until this raw material is manufactured in this country in sufficient quantities and is made available at a reasonable low cost." "Judged by the present conditions," the Board added, "It is likely that imports will have to continue for some years to a small extent."

Of the other raw materials, pig iron and coke are available in India in adequate quantities and supplies of furnace oil and hardening oils have been satisfactory. Imports of machinery are mostly from the U.K.

Standards.

As to quality the Indian product generally is comparable to the imported except for tools which require special equipment. The industry produces a large variety of small tools which have reached a high degree of precision. Yet there is scope for improvement. The suggestion of the Tariff Board (1949) seems most sound. It was, "Considerable improvement in quality and acceleration of production can be achieved if each factory specialises in the production of particular types of tools for which its plant is best equipped."

The Indian Standards Institution has prescribed standards.

Accurate statistics of imports are not readily available. Exports are either nil or negligible.

Supply of high-speed, alloy, and tool steel seems to be the main obstacle to progress. It is hoped, however, that as a result of the steps taken by the Government to implement the recommendation of the Tariff Board in its report on the continuance of protection to the alloy, tool, and special steel industry there will be a substantial increase in the production of these types of steel.

Bicycles.

The Bicycle Industry may be said to have started in India in 1941. It might have started earlier but for the war, for in 1938, the Indian Cycle Manufacturing Co., Ltd., Calcutta, placed orders for machinery in Germany. Before all the machines could be delivered war broke out and the Company had to alter its original programme and take to the manufacture of certain accessories and components of bicycles instead of complete bicycles.

In 1939, two other Indian firms were registered as public limited companies with the object of manufacturing complete bicycles. The two firms—The Hindustan Bicycle Manufacturing and Industrial Corporation and the Hind Cycles—located their factories in Patna and Bombay respectively.

In 1942-43 the industry, although originally planned to produce bicycles for civil consumption had to switch over to war production. Besides producing certain essential articles like wire contact frames, fuse caps, buttons, hospital and red cross equipment, etc., it supplied the Govt. during the war with about 50,000 bicycles.

In 1941-42, production (i.e., the no. of cycles produced as also spare parts equated to complete bicycles) amounted to 27,641 and imports to 54,455. In 1945-46 about 44,000 were produced and 76,141 imported. The increase in production was not very encouraging. The Industry attributed the failure to insufficient supply, rise in the cost of raw materials, labour unrest, and high wages. Agreeing that the pleas were valid the Tariff Board, 1949, pointed out that they were, however, only part of the story. Lack of organisation and relatively low standards of manufacturing technique, they said, were also responsible.

A third manufacturing unit has come into existence, the T. I. Cycles of India, Ltd. They set up a factory in 1950 at Ambathur, 17 miles from Madras. It is a co-operative effort to produce 100,000 bicycles a year, the ultimate target being 200,000 a year.

Sen-Raleigh Industries of India, Ltd., are setting up a factory near Asansol. They have had sanction from the government for the manufacture of bicycles upto a maximum of 100,000 per annum.

Atlas Cycle Industries, Ltd., Sonepat, Punjab, have received government sanction for assembly and manufacture of 100,000 bicycles a year.

Existing capacity is expected to be augmented by about 310,000 bicycles per year.

Production.

The table below shows the structure and installed capacity of the industry and production of bicycles from 1947 onwards :

Item	1947	1948	1949	1950
No. of units	2	2	2	3
Capacity (Bicycle Nos.)	60,000	94,000	94,000	120,000
Production (Bicycle Nos.)	48,827	55,451	64,425	104,005

Production in 1951 upto and including November was about 88,000. Targets for 1955-56 have been fixed at : Installed capacity 525,000 ; and Production at 500,000. It is hoped that India will soon be self-sufficient in bicycles.

In 1949, the cost of existing plant and machinery was assessed at Rs. 3.3 lakhs, the cost of labour at Rs. 2.7 lakhs, and cost of materials Rs. 3.7 lakhs. A bicycle consists of about 150 parts and manufacture invovles about 1,000 different operations.

The raw materials required are steel, ready components, rubber parts, consumable stores, and accessories. Only mild steel bars, sheets, and wires are manufactured in India. The rest of the steel has to be imported. The manufacture of free cutting steel and strips requires a cold reducing unit which does not exist in India. It is learnt that Indian steel producers could supply alloy and tool steels if manufacturers 'bulked' their requirements. Otherwise production, they contend, would be uneconomic.

Free-wheels are not manufactured in India and have to be imported. These come mainly from the U. K. Tyres, tubes, handle grips, pedals and brake-rubbers are all manufactured in India. Most of the consumable stores (e.g., belts, emery powder, grinding wheels, fuel and fuel oil, leather and oil paints) are available in India and quality is satisfactory.

Almost all accessories (e.g., lamps, carriers, stands, bells, pumps, tool bags, and reflectors) are manufactured in India. Quality is satisfactory. For some cycle parts and accessories the Indian Standards Institution has prescribed standards. For others, British standard specifications apply.

Labour.

Initially the Industry experienced considerable difficulty over labour which lacked the necessary technical skill for efficient production. In the last few years, however, the situation has improved. Release from the ordnance depots after the war helped recuritment. The mass of labour employed now is fairly skilled. Some have acquired a high degree of efficiency.

Hurricane Lanterns.

The Industry may be said to have started in India in 1925. The Industry is now able to meet in full the requirements of the country. Progress in the last few years has been particularly rapid.

In 1946, there were about eight important manufacturers and their total capacity was estimated at 17.52 lakhs lanterns per year. Production that year was about 4.7 lakhs. By 1949, according to an estimate by the representatives of the Industry, installed capacity had increased to 25 lakhs.

Three schemes approved by the Govt. are under operation. They comprise :

Company	Capacity after expansion
Jay Engg. Works, Calcutta.	1,200,000
Hindustan Lant. Factory, Saharanpur.	100,000
Mass Products, (India) Ltd., Lucknow.	150,000

These schemes would, when complete, increase the installed capacity to 4,750,000 lanterns per annum.

Raw Materials.

Materials required are tin plates (or mild steel sheets), brass sheets, galvanised and steel wires, solder, paint, wick and glass globes. Mostly Indian tin plate is used. Supplies are regular but not adequate. The Ministry of Commerce and Industry is willing and able to supply block tin; but the cost, manufacturers complain, is much too high.

Of components, there are about 36. Manufacture, although it involves between 120 and 140 operations, does not require complicated machinery. Most of the machinery comes from the U. K., U.S.A., and Europe.

Total capital invested in the industry is estimated at a little over a crore of Rupees. Workers number about 3,000.

About the quality of the product, opinions differ. There is the view that although there has been some improvement, there is considerable scope for more; others contend that the quality is as good as that of imported lanterns. But all are agreed that with regular and adequate supply of the raw materials required further improvement in quality should not be difficult.

The Industry follows British standard specifications. The Indian Standards Institution has standards under consideration.

Some manufacturers have had their products tested at the Government Alipore Test House. The results are said to be satisfactory. Also of possible future significance are the tests which a few manufacturers are conducting in their own work-shops. Usually these relate to security against leakage and "extent of burning power," i.e., time taken for one fill of kerosene to burn out. The more enterprising have begun producing electroplated lanterns and lanterns of sizes other than the standard.

Machine Tools.

'Machine Tool' is a generic term which covers a wide range of articles and an enormous variety of designs. There are many definitions, but broadly speaking it can be taken to include any mechanical contrivance for cutting, forming, abrading, polishing or, otherwise working or, treating wood, glass, metal or, plastic material, such as, bakelite, any standard equipment usually sold therewith and any machinery ancillary to the operation thereof.

Machine Tools are usually power driven and are not portable by hand. Divided into types, they are again, broadly speaking, lathes drilling machines, shaping and planning machines, milling machines, hand-sawing machines, circular-sawing machines, presses and chucks.

They have a large variety of uses both general and special. Among the more important are construction of machinery and parts, and maintenance and repair of plant. They have been called "producers goods in the second degree," because they constitute the productive element "directly responsible for manufacturing the machines which assist in producing goods for consumption".

Apart from the steady approachment which they have made into uses formerly reserved for small tools, they are an integral, and in some cases, a fairly expensive, part of the set up of most industries, e.g., Automobiles, Aircraft, and Agricultural Implements. Not only do they confer the obvious benefits of increased control, but Machine Tool factories administer a stimulus to the Engineering industries of the area in which they are located. Invaluable in peace time in maintaining an expanding industry, during war they lend themselves readily to conversion of production to war requirements. The rapid growth of the industry and its present position in western countries implies early recognition of this fact. Many countries especially the U.S.A. are constantly experimenting with new and improved types of machine tools—more elaborate and more expensive.

There is in India evidence of effort to produce machine tools as early as 1890. Manufacture appears to have continued throughout the early years of this century. But manufacturers were few and their products were generally poor in quality. Production was mostly by factory and workshop owners to meet their own requirements. Indeed it may be said that an organised Machine Tool industry did not exist before World War II. Requirements were met mostly by imports.

With the outbreak of war, imports became difficult and the Govt. of India decided to develop the industry. In February, 1941, they passed the Machine Tool Control Order and appointed a Controller to make an inventory of machine tool production, regulate imports, improve the quality of the local product and secure for the armed forces, ordnance factories, and war industries machine tools of the best quality.

Some Suggestions.

The Board recommended that the Industry should be protected upto March, 1950 ; that, subject to certain exceptions, a protective duty of 25% ad valorem should be imposed on all imported machine tools ; that, this rate of duty should remain in force for one year, during which the machine tool controller should collect, as far as possible, information regarding c.i.f. prices of those qualities which were manufactured in India ; that, if during the period of protection any attempts were made by exporting countries to dump their products in the Indian market, a review should be made and the protective duty adjusted accordingly ; that import control on a quantitive basis should continue up to March 31, 1950 ; that, licences for imports should be issued only in respect of machine tools not manufactured in India or not manufactured in sufficient quantity to meet the

full demand within a reasonable period of time; that, for m/c tools not manufactured in India a remission of 15% duty should be made, thus reducing the effective duty to the present level of 10% ad valorem; that, all Govt and quasi-Government purchases should be of Indian made goods as far as possible; that, the Government should create a special fund for the development of the m/c tool industry and make an annual non-lapsable contribution of Rs. 10 lakhs to this fund; and that, an advisory committee consisting of representatives of manufacturers, importers, and main consumers should be set up and maintain a close touch with the various schemes of development and control.

Production.

Machine Tools manufactured in India include bench lathes, cone pulley type lathes, bench drilling machines, vertical pillar type drilling machines, shaping m/cs, slotting machine, planning m/cs, double ended tool grinders, hack sawing m/cs, machine vices, power presses, three jaw and four jaw lathe chucks, and all geared head lathes.

Of the total installed capacity there are few reliable estimates. One report has it that it has been static at Rs. 99,60,000 worth since 1947. The table shows the production for the 10 years since 1942:

Year	Quantity	Value in Rs.	Production viewed as percentage of imports
1942	273	6,07,000	10.65
1943	1,713	63,58,000	118.48
1944	2,170	77,80,000	50.95
1945	3,699	1,11,66,000	61.35
1946	2,120	91,25,000	49.79
1947	1,400	45,87,000	12.47
1948	1,691	54,72,000	1[illegible].20
1949	2,240	47,29,000	11.27
1950	1,120	29,59,060	10.67
1951	2,720	45,45,000	18.10

Demand in 1952 has been encouraging and it is hoped that production in 1952 will be higher than in 1951.

The overall position, however, is not altogether satisfactory. The industry is not yet in a position to manufacture "production and precision types" for which there is a great demand for rehabilition and extension

of essential services. Production is still confined largely to simple and primary types of machine tools and the total output even of these does not meet more than 3% of the total needs.

Sewing Machines.

The Sewing m/c Industry in India is of most recent origin. Jay Engineering Works, Ltd., Calcutta, produced their first "Usha" machine in 1937. The India Sewing Machine Manufacturing Co., Ltd., Lahore, and the Delhi Sewing m/c Co. Ltd., Delhi, began manufacture in 1938. In 1939, Messrs K. C. Mullick & Sons, Ltd., Calcutta, established a factory.

To the Industry in many ways the war was a setback which came when it hardly had time to find its feet.

Production.

There are two types of sewing machines: the Domestic and the Industrial. Domestic machines are used for stic..ing light clothing; and industrial ones for stitching heavy clothing, leather or, hosiery. Manufacture of Industrial machines has only just begun. Almost all requirements of such machines are imported.

The gap between production and demand is large. There is clearly yet scope for inve tment of more capital either in the expan ion of existing units or in the establishment of new. If new ones are to be established, it seems that units for the production of Industrial Sewing Machines would in present circumstances be the most useful.

Conclusion.

In the early years production was small and far from well organised. The war period was one of adaption to current needs, as well as in some cases, of expansion. Since peace returned, opportunities of scientific development to meet the demands of a growing market have come to be appreciated and advantage is being taken of them. A blemish, however, is lack of specialisation. Few small scale manufacturers have been able to afford the luxuries of up-to-date equipment. Fresh capital is hard to obtain.

The man power needs of the industries over the next few years are likely to increase substantially. A stable labour force has to be built up. It seems essential to increase and improve facilities for technical training, otherwise a grave shortage may develop.

It is clear that most industries are working under-capacity and will continue to do so until supplies of certain raw materials and components are regular and adequate.

Iron and steel supplies are basic and requirements tend to be specialised. The reluctance of Indian iron and steel companies to make the necessary production changes unless the orders for special steels are substantial is understandable for otherwise they might throw out of balance the production of other types.

Supplies from abroad are uncertain. Were it possible to forecast even approximately the level of military and stockpiling purchases the situation might be less obscure. Prices continue to be high. That some of the shortages are quantatively small is poor consolation. In the course of expansion new magival shortages may develop, changing sufficiency into scarcity. Thus there are limits to development programmes, though the need for expansion is urgent. Dependence on imports makes the industry's economic position somewhat precarious.

Statistics of production given illustrate development and also reflect the manufacturing difficulties involved.

Quality varies from manufacturer to manufacturer. That there has been improvement, however slow, is indisputable ; but this does not warrant complacency. Some manufacturers seem reluctant to subject their products to official tests while they are earning good profits in a sellers market. This short-sightedness is a bar to progress. Little attention has been paid to research. It is only latterly that the government has offered to help.

Active Support.

The important point about the Planning Commission's targets is that they represent a long-term view calling for active official support as well as exhortation. The fear that in terms of volume, production at the end of the period, far from being inadequate, may be in burdensome surplus does not, judged by the trend of demand, seem justified.

Although the position in some cases is confusing, by and large it seems that development of these industries in the post war period has led to a considerable reduction of imports. In seven brief but eventful years since the war the basic statistical position of many of these industries has altered considerably to India's advantage. Some have now set themselves exprot targets—a welcome development.

The Tariff Board has held inquiries from time to time ; but unfortunately there is little in the later reports to show that adequate action had been taken on the recommendations of the earlier. However, the Government has made notable efforts to instil a sense of security into the industry. Tariff protection, assistance in obtaining raw materials and components, and inspection of quality are cases in point.

In the years to come demand is likely to increase steadily. There exists a large field of potential expansion for small manufacturers, without fears of immediate competition.

Because there are so many conflicting factors any forecast of the future is liable to wide error. All that can be said in present circumstances is that the general situation seems hopeful.

DEUTERIUM

SHRI KSHATRA PATI SINGH

The study of the properties and chemical behaviour of a substance formed as the result of disintegration of radioactive elements led to the conclusion that certain elements existed which showed identical chemical properties and differed only in their atomic weights. For example, lead is formed when the metallic uranium undergoes spontaneously radioactive disintegration. Lead obtained from radioactive sources which contained Uranium found to have atomic weights that varied from 206.08 to 206.34. The atomic weights of lead determined by the Thorium mineral gave the value 207.9. The atomic weight of ordinary lead is 207.21. The two varieties of lead were said to be Isotopes.

The discovery of Isotopes immediately led to the experiments to endeavour to find out whether or not the elements, as known to chemists, consisted in each case of a mixture of Isotopes. To some extent they were successful by divising 'mass-spectrograph.'

The existence of the Isotopes of metals naturally led to the view that Isotopes of other elements might exist. The case of Hydrogen was of particular interest because it has the smallest atomic weights.

H. C. Urey, an American physical-chemist of Columbia University, attempted the isolation of the suspected new form of Hydrogen to which the symbol H^2 was first given to differentiate it from the symbol of ordinary Hydrogen H and from the molecule H_2. The method used was to allow solid Hydrogen to evaporate and to examine the spectrum of the gas from time to time. Certain lines in the spectrum appeared and increased the intensity as the evaporation proceeded. But the method was not successful in obtaining the isotope of H.

Since Hydrogen is present in water, it was thought that the latter must contain the oxide of heavy Hydrogen, which would be an undiscovered form of water. Washburn carried on the experiments on heavy water. It was found that ordinary water H_2O is broken down by electrolysis in the presence of H_2SO^4 more rapidly than in heavy water H_2O. Urey adopted this method. As the water was converted in gasses, the residual water was found to contain more and more heavy water. Finally a sample

of the latter was obtained which was practically 100% and from this heavy water pure heavy Hydrogen was separated. Heavy Hydrogen is present in water, as we know it, to the extent of 1 part in about 6,000 to 8,000 parts of the latter. Urey was awarded in 1934 Nobel Prize in Chemistry for this investigation of heavy Hydrogen.

The isolation of the two forms of Hydrogen is the first example of the complete separation of Isotopes. The method used to separate the two forms of water is based on the difference in chemical properties of these two forms. The view expressed when Isotopes were first discovered—that they possessed identical chemical properties—does not apply to Hydrogen and probably does not apply to other elements. The differences that exist in the case of Hydrogen are, no doubt, relatively great because the relationship between the weights of the two kinds of atom is great—2 to 1.

The atomic weight of heavy Isotope of Hydrogen has been determined and found to be 2.03. It is now called Deuterium to which the symbol D is given. It resembles Hydrogen closely in chemical properties and forms similar compounds with other elements.

Usually form Deuterium Oxide gaseous Deuterium D_2 is obtained by dropping the liquid on Na : $2D_2O+2Na=2NaOD+D_2$. The D_2 molecule, like the H_2 molecule exists in ortho and para forms the equilibrium mix. at room temp. being 2 ortho and 1 para. At low temp. it is almost all ortho. The D_2 content of Hydrogen gas may be found from the thermal conductivity or by mass-spectrograph. In mixtures of H_2 and D_2 and of H_2O and D_2O, exchange reactions of H and D atoms occur and hence owing to the reaction:

$$H_2+D_2 \rightleftharpoons 2HD \text{ and } H_2O+D_2O \rightleftharpoons 2HOD.$$
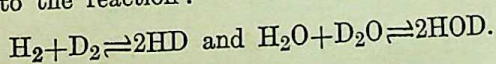
The molecules HD and HOD are also present.

Every Hydrogen compound could have a corresponding Deuterium compound and many have been prepared. The acid Dcl is formed from the elements and DF by the reaction $D_2+2Agf=2Ag+2DF$. "Heavy-ammonia" ND_3 is formed from D_2O and Mg_3N_2 and combines with many Salts. Deuteromethane CD_4 is obtained and Deuteroacetylene C_2D_2 is obtained from D_2O and CaC_2. The acids DNO_3, D_2SO_4, and D_3PO_4 are formed by dissolving the anhydides in D_2O. Association (e.g. DF) is greater with Deuterium compounds than with the corresponding Hydrogen compounds (e.g. HF). The dissociation pressure of deuterates and deuteramines with salts are somewhat smaller at a given temperature than those

of corresponding hydrates and amines. Other methods of separating Hydrogen and Deuterium are now being studied. One of these is based on diffusion. A chemical method of obtaining Deuterium, which is being studied, is based on the fact that when a metal such as Zn. reacts with a dilute solution of H_2SO_4, Deuterium ions $D+$, present are discharged about 1/5th as rapidly as Hydrogen ions.

The Deuterium atom contains one valence electrons. It is thought that nucleus contains 1 proton and 1 neutron. The neucleus is called Deuteron. The Deuterium nucleus or Deuteron is exactly like an ordinary one except that its atomic weight is doubled so that it would be represented by ${}_1H^2$ instead of ${}_1H^1$. This, like the neutron, looked as if it would make an excellent projection, for, inspite of its positive charge it has twice the kinetic energy mb2/2 of a porton at a given speed. Deuterons were first used to bombard other atoms, i.e., atomic disintegration in the famous cyclotron of Ernest O' Lawernce at Birkeley, California.

As we know the several kinds of projectile, used to hurl at atomic nuclei, a resume of this may be helpful. There are four of them as follows :—

Name	Origin	Charge	Approximate Atomic wts.
1. Alpha particle (helium nucleus)	Radium	+2	4
2. Protons (hydrogen nucleus)	Hydrogen atom	+1	1
3. Neutron	Atomic nuclei	0	1
4. Deuteron	Hydrogen Isotope	+1	2

In general it may be said that the last two are most widely used to-day in view of their intrinsic advantages and of the scarcity of Radium and its radioactive relatives. It has been shown that when Deuterons bombard Lithium atoms; Helium and Beryllium are formed and under the same condition Beryllium yields neutron.

Another Isotope of Hydrogen Tritium of atomic weight 3 has been discovered. It is radioactive emitting B-rays.

सेन्ट्रल हिन्दू कालेज गीत

वर दे, वीणावादिनि वर दे !
प्रिय स्वतंत्र रव अमृत-मंत्र नव भारत में भर दे !
काट अन्ध उर के बन्धन-स्तर
बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झर ;
कलुष-भेद-तम हर प्रकाश भर जगमग जग कर दे !
नव गति, नव लय, ताल छन्द नव,
नवल कण्ठ, नव जलद-मन्द्र रव
नव नभ के नव विहग-वृन्द को नव पर, नव स्वर दे !

*सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के आदर्श

श्रद्धेय डा० भगवानदास

ॐ

कुलपति आचार्य नरेन्द्रदेव जी, अध्यापकवृन्द, प्रिय विद्यार्थीजन, कई दिन हुए, सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के, जिसको अब आर्ट्स कालेज कहते हैं, प्रिंसिपल श्री रमाशंकर त्रिपाठी जी ने मुझ से कहा कि कालेज की स्वर्ण जयंती मनाई जायगी, उसका आरंभ १३ नवंबर को तुम करो, एक व्याख्यान से, इस विषय पर कि इसकी स्थापना किन 'आइडीयल्स', आदर्शों, को सामने रखकर की गई थी। यद्यपि मैं वार्धक्य के कारण बहुत शिथिल हो रहा हूँ, तौ भी त्रिपाठी जी के निर्बंध से आज यहाँ उपस्थित हुआ हूँ।

श्रीमती डाक्टर ऐनी बेसेन्ट के नेतृत्व में जिन भारतीय और अंग्रेज़ व्यक्तियों ने इसकी नीव रक्खी, उनमें से अब अकेला मैं ही रह गया हूँ; इसलिये उपपन्न भी है कि उन आदिम आदर्शों को मैं आपको सुनाऊँ; संस्था के आरम्भ को पचपन वर्ष होते आए, आदर्श प्रायः भूल गए; उनकी स्मृति को पुनः जगाना उचित ही है।

७ जुलाई, १८९८ ई० के दिन, काशी की एक गली में, किराये के मकान में इस संस्था का आरम्भ हुआ। एंट्रेंस और उसके नीचे की एक कक्षा, जिनको अब १० वीं और ९ वीं कहते हैं, स्कूल विभाग में, और फर्स्ट इयर की एक, कालेज विभाग में खोली गईं। १३ मार्च, १८९९, को, स्कूल की दो और कक्षा, ८ वीं और ७ वीं, तथा कालेज की एक, सेकेंड इयर, बढ़ाई गईं। ६ अगस्त, १८९८, को, इलाहाबाद की युनिवर्सिटी से संस्था संबद्ध हुई। ७ मार्च, १८९९, को संकल्प पत्र (मेमोरेंडम् आफ़ ऐसोसियेशन) कलकत्ते में लिखा गया, और उसपर प्रथम श्रीमती ऐनी बेसेंट के, फिर अन्य ६ व्यक्तियों के, हस्ताक्षर हुए; परन्तु विदित हुआ कि उसका रेजिस्ट्रेशन कलकत्ते में नहीं प्रयाग में होना चाहिये। अतः १८ अप्रैल, १८९९, को इंस्पेक्टर-जेनरल आफ़ रेजिस्ट्रेशन, इलाहाबाद ने, उसका रेजिस्ट्रेशन, धर्मत्र-विधि-विधान (चैरिटेबूल एंडाउमेंट्स ऐक्ट) के नियमों के अनुसार किया।

संकल्प-पत्र में दो उद्देश्य लिखे गये, मुख्य रूप से; अन्य भी कुछ, जो इन दो के अवांतर सहकारी थे।

(a) To establish educational institutions, including boarding-houses, which shall combine moral and religious training, in accordance with Hindu Shastras, with secular education; to

*सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की स्वर्ण जयंती के समारोह के अवसर पर श्रद्धेय डा० भगवान दास का भाषण, ति० १३ नवम्बर, १९५२.

promote the imparting of similar religious and moral training in other educational institutions.

अर्थात् (१) छात्रावासों सहित ऐसी शिक्षा संस्थाओं का स्थापन करना जो लौकिक विषयों की शिक्षा के साथ-साथ, हिंदू शास्त्रों के अनुसार सद्धर्म और सदाचार की शिक्षा दें; (२) देश की अन्य शिक्षा संस्थाओं में ऐसी शिक्षा दिलाने का यत्न करना।

डाक्टर आर्थर रिचर्डसन अवैतनिक प्रिंसिपल हुए। उस समय सरकारी पाठशालाओं और विद्यापीठ में धर्म की शिक्षा नहीं दी जाती थी, और सन् १८९० के आसपास, उनमें फ़ीस भी सहसा बहुत बढ़ा दी गई थी, जिससे अल्पवित्त कुलों के लड़कों का अध्ययन बहुत कठिन हो गया था। इन दोनों त्रुटियों को दूर करने के विचार से इस संस्था का आरम्भ किया गया। श्री उपेन्द्रनाथ वसु, उनके छोटे भाई श्री ज्ञानेन्द्रनाथ वसु, और मेरे बड़े भाई श्री गोविंददास ने श्रीमती बेसेंट को इस कार्य में अग्रसर होने के लिए राज़ी किया।

पहिले यह विचार हुआ कि भारत में बसने वाले सभी धर्मों के अनुयायियों के बालक और युवा इसमें सर्व साधारण शाश्वत धर्म की शिक्षा पावें; अपना अपना विशेष धर्म अपने अपने घरों में सीखें। धर्म भेद से कितने घोर उपद्रव और जन-धन-संहार हुए, तथा सार्वजनिक समृद्धि में कितनी बाधा पुनः पुनः हुई, इतिहास इसका साक्षी है। यूरोप में, प्राटेस्टेंट और रोमन काथोलिक के परस्पर घोर युद्धों से, तीन शतियो में, प्रायः एक करोर मनुष्य मारे गए, सहस्रों जीते जला दिए गए, सहस्रों जीते गाड़ दिये गए, सहस्रों अंग भंग करके मारे गए। आज भी फ़िलिस्तीन आदि देशों में यहूदियों और मुसलमानों के युद्ध हो रहे है। भारत में १२०० वर्ष तक हिन्दुओं और मुसलमानों के संग्राम होते रहे, यहाँ तक कि, पांच वर्ष हुये, भारत के तीन खड हो ही गये, और अब भी यह संग्राम शांत नहीं हुआ है। आयरलैंड के भी दो खंड, उत्तरी और दक्षिणी, रोमन कैथोलिक और प्राटेस्टेंट के धर्म भेद से हुये, तथा दक्षिण भाग का ब्रिटेन से विच्छेद भी हो गया। धर्म-भेद-जनित यह सब दुर्दशा आपकी आँखों के सामने है। इसीसे, पहले, विचार हुआ कि सब धर्मों के लड़कों को वर्तमान भिन्न-भिन्न धर्मो में अनुस्यूत, साधारण शाश्वत धर्म की शिक्षा दी जावे। पर शीघ्र ही विदित हुआ, कि अन्य धर्मों के सज्जन इसके अनुकूल नहीं हैं। अतः निश्चय किया गया कि, हिन्दू नाम से कहलाने वाले धर्म और समाज में, जो सैकड़ों सम्प्रदाय और पंथ, और सहस्रों जाति-उपजाति-उपोपजातियाँ, परस्पर विद्वेषी भर गई हैं (जिन्हीं के कारण हिन्दू समाज छिन्न-भिन्न होकर, 'पर-राजों' के पैरों के नीचे १२०० वर्षों से पड़ा था), उनको यथासंभव, सर्वमान्य सद्धर्मसार सनातन धर्म की शिक्षा देकर धर्माभासों और मूढ़ग्राहों से बचाकर 'कर्मणा-वर्णः' और 'वयसाआश्रमः' के अनुसार, अध्यात्मशास्त्र, साइकालोजी, से विहित, चार मुख्य वर्णों और आश्रमों में, परस्पर-संबद्ध संगृहीत करके 'सच्चे स्वराज्य' के योग्य बनाया जाय। अंग्रेजी शब्दों में, 'to liberalise and rationalise Hindu Dharma and solidarise the Hindu people', अर्थात्, 'हिन्दू धर्म को पुनः उदार, युक्ति-युक्त, बनाया जाय, और हिन्दू समाज में संघता पुनः लाई जाय'।

इस साध्य के साधन के लिये सामग्री, उपयुक्त पुस्तकों के रूप में, अपेक्षित थीं। कालेज के निधि-पालक-मंडल (बोर्ड आफ़ ट्रस्टीज) ने एक समिति नियुक्त की और उसको आदेश किया कि एक ग्रंथ की रचना करो, जिसमें हिन्दू-धर्म का प्राचीन ऋषि-सम्मत रूप दिखाया जाय। श्रीमती बेसेंन्ट प्रधान और मैं मंत्री उस समिति के बनाये गए। सन् १९०१ में श्रीनगर, कश्मीर, में मई, जून, जुलाई, में उक्त ग्रंथ लिखा गया। सौ प्रतियाँ छापकर, उस समय के सांप्रदायिक तथा राजनीतिक हिन्दू नेताओं, तथा विख्यात पंडितों और विद्वानों, के पास भेजी गई, और प्रार्थना की गई कि जो घटाव बढ़ाव आप उचित समझें उसकी सूचना दीजिये। प्रायः बीस सज्जनो ने उत्तर भेजे। आठ अधिवेशनो में बोर्ड ने एक एक शब्द पर विचार किया; ग्रंथ का अंतिम रूप निश्चित हुआ; 'सनातन धर्म, ऐन् ऐड-वांस्ड टेक्स्ट बुक आफ् हिंदू रिलिजन ऐंड एथिक्स' के नाम से छापा गया। उसी के आधार पर, एक बहुत छोटी प्रश्नोत्तरी, 'कैटेकिज्म,' पाठशालाओं की प्राथमिक कक्षाओं के योग्य, और एक 'एलिमेंटरी,' ऊँची कक्षाओं के लिये, लिखी गई; बड़ी पुस्तक विद्यालयों के विद्यार्थियों के लिये उपयुक्त है। 'प्रश्नोत्तरी' का अनुवाद ग्यारह-बारह प्रांतीय भाषाओं में हुआ, 'एलिमेंटरी' का भी दो-तीन में। सन् १९०६ तक तीनो की प्रायः १३०००० प्रतियाँ भारत के स्कूल कालेजों में फैल गईं। पंजाब के सब सिक्ख राजा महाराजों ने, तथा कश्मीर, बरोदा, मैसूर, ग्वालियर, बीकानेर, भावनगर, अलवर, त्रावन्कोर आदि के महाराजों ने अपने अपने राज्य की शिक्षा संस्थाओं में इन के उपयोग की आज्ञा दी, कालेज के संरक्षक, 'पेट्रन,' हुए और बहुत बड़ी-बड़ी आर्थिक सहायता प्रति वर्ष देने लगे, जिससे स्कूल, कालेज, तथा बालिका पाठशाला के बड़े-बड़े भवन बन गए। उस समय के निजाम हैदराबाद ने भी, उदार बुद्धि से, अपनी रियासत में, हिंदू लड़कों को यह पुस्तक पढ़ाने की अनुमति दे दी। संस्था का सबसे अधिक उपकार उस समय के काशी नरेश महाराज प्रभुनारायण सिंह ने किया, दो बड़े मकान और बहुत सी भूमि दी, जिनके बिना इस संस्था का आरंभ प्रायः असम्भव होता। काशी विश्वविद्यालय को भी, विविध प्रकार से, बहुत दान और सहायता दी।

इस संस्था के चौदहवें वार्षिकोत्सव में, ७ दिसम्बर, १९१२ को, महाराज प्रभुनारायण सिंह सभापति हुए, ओर उन्होंने जो भाषण किया उसके ये वाक्य सदा स्मरणीय हैं:—

"In order to benefit Hindus at large and to *leaven* the purely material education of the present day with the high ideals of Hindu Religion and Ethics, this noble and venerable lady established this College in this holy city, so that it may bring forth students nursed in worldly lore, but infused with *those high ideals without which man is little better than beast. Education is barren without ethics, and ethics has no standing without religion.* The interests of this college ought to be zealously guarded, more especially as it is going to be the nucleus of the Hindu University". अर्थात्,

"आजकाल जो केवल लौकिक विषयों की शिक्षा दी जाती है, उसके साथ समस्त हिन्दुओं के उपकार के लिये, हिन्दू धर्म के ऊँचे आदर्शों की शिक्षा देने के लिये, इन महानुभाव देवी (श्रीमती बेसेंट) ने काशी की पवित्र नगरी में इस विद्यालय की स्थापना की है, जहाँ सब विद्यार्थी, धर्म के उन तत्वों को सीखें जिनके बिना मनुष्य पशु के तुल्य रह जाता है; बिना सदाचार के विद्या ऊषरवत् है, और सदाचार की नीव एकमात्र सद्धर्म ही है। इसलिए इस विद्यालय की रक्षा और उन्नति के लिये यत्न करना चाहिये, विशेषकर इस हेतु से कि अब इसको विश्वविद्यालय का रूप धारण करना है।"

उसी उत्सव में श्रीमती बेसेंट ने कहा,

"The general feeling was against religious education. It was said there were so many divisions in Hinduism that it would cause disputes among the students. No one had tried so far to establish an institution over which should spread the *spirit* of Hindu religion. There is nothing so irrational as to say that a nation can live without religious education. I appeal to history when I say that the great public schools and colleges of England were founded by religious men".

अर्थात् "जनमत धर्म की शिक्षा के पक्ष में प्रायः नहीं था, लोग समझते थे कि हिन्दू कहलाने वाले धर्म के भीतर इतने अधिक भेद हैं कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के विद्यार्थियों में झगड़े होने का भय है। अब तक किसी ने ऐसी संस्था स्थापित करने का उद्योग नहीं किया था जिसमें हिन्दू धर्म का मर्म, उसकी आत्मा, व्याप्त हो। कोई मानव जाति बिना धार्मिक शिक्षा के जीवित रह सकती है, ऐसा समझना सद्बुद्धि और विवेक के विरुद्ध है, बड़ी भूल है। इंगलैंड के सभी बड़े स्कूलों और कालेजों की स्थापना धर्मात्मा व्यक्तियों ही ने की है, इसका साक्षी इतिहास है।"

सन् १९१५ में जब हिन्दू युनिवर्सीटी ऐक्ट पर, केन्द्रीय विधान सभा में वाद-विवाद हो रहा था, श्री मोतीलाल नेहरू जी ने मुस्किराकर पूछा "What is Hinduism? What Hinduism are you going to teach?" ("हिन्दू धर्म क्या है? कौन से हिन्दू धर्म को आप पढ़ावेंगे?" श्री मालवीय जी ने उत्तर दिया, "There is no room for question as to what Hinduism we are *going to teach*. We *have been teaching* Hinduism through these text books." "ऐसे प्रश्न के लिये स्थान ही नहीं है कि क्या पढ़ावेंगे! इन पुस्तकों के द्वारा पढ़ाते रहे हैं!"

इनकी रचना के पहिले 'हिन्दू धर्म क्या है?' इस प्रश्न का उत्तर देना बहुत कठिन था। संस्कृत के किसी धुरंधर विद्वान् पंडित से पूछिये, तब आप को इस कठिनाई का पता लगेगा। कोई एक सर्वमान्य आचार नहीं, विचार नहीं; शिखा-सूत्र कहिये, तो पवित्रतमंमन्य द्विजों के बालकों को भी मुंडन और उपनयन-संस्कार के पहिले नहीं, न सन्यासियों को;

स्त्रियों को तो सर्वथा नहीं। संस्कृत का ज्ञान ? दश सहस्र में एक को स्यात् ही। वेदों में विश्वास ? करोरों ने नाम ही नहीं सुना होगा; तथा भारतीय बौद्ध, जैन, सिख, तांत्रिक, जो सभी हिन्दू माने जाते हैं, वेदों में विश्वास नहीं करते ! ६: आस्तिक और ६: नास्तिक दर्शन प्रसिद्ध हैं, जगत् से भिन्न, जगत् के स्रष्टा, पालनकर्ता, संहर्ता, किसी ईश्वर को, आस्तिक दर्शन भी नहीं मानते; दर्शनों का शिरोमणि, अद्वैत वेदांत तो स्पष्ट ही नहीं मानता। कोई एक मंत्र नहीं, बीसियों गायत्रियां बना ली गई हैं। यहूदी, ईसाई, मुस्लिम धर्म में एक ईश्वर, एक धर्म ग्रंथ, एक धर्म प्रवर्तक में, विश्वास देख पड़ता है। विदेशी यात्री भारत में आकर हिन्दू धर्म का रूप जानना चाहते हैं; उक्त दुर्दशा को देखकर आश्चर्य, तिरस्कार, घृणा से भर जाते हैं। मिस मेयो की "मदर इंडिया" नामक पुस्तक इसका उदाहरण है। हिंदू उससे बहुत क्रुद्ध हुए; परंतु कितनी ही बातें उसने ठीक लिखीं हैं, चाहे उसकी नीयत अच्छी न रही हो, पर विचारवान् सज्जनों को उचित था कि उससे, चिकित्सक के बताए रोग के निदान का काम लेते, और दोषों को हटाने का यत्न करते। उन घोर दोषों का ही फल है कि जहाँ, १४०० वर्ष पहिले, प्रतिशत सौ हिन्दू थे, वहाँ अब पैंसठ वा उससे भी कम रह गए हैं, पच्चीस प्रतिशत से अधिक मुसलमान हो गए हैं, और अब भी होते जाते हैं, तथा दश प्रतिशत से कम ईसाई तथा अन्य धर्मावलंबी हैं। दूसरों पर, इस दुःखद परिणाम के लिये, क्रोध करना नितांत मूर्खता है; अपने दोष पहिचानना और दूर करना चाहिये। हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज के इस क्षय को रोकने का एकमात्र उपाय यही है कि, "हिंदू" नहीं, प्रत्युत "सनातन आर्य-मानव-धर्म" का सत्य स्वरूप जनता के सामने रक्खा जाय, और अथक परिश्रम से, उसका प्रचार प्रसार किया जाय।

ऐसा स्वरूप इन पुस्तकों में दिखाया है। उसका प्रचार भी प्रायः दस वर्ष में बहुत हुआ जैसा पहिले कहा। परंतु किसी कारण से, जब से सेंट्रल हिंदू कालेज, हिंदू युनिवर्सिटी को सौंपा गया, तब से इनका उपयोग, स्वयं युनिवर्सिटी में बंद हो गया, पुस्तकों की उपेक्षा हुई; सारे देश में प्रचार सर्वथा बंद हो गया। जैसा एक अन्य भाषण में, श्रीमती बेसेंट ने कहा था, उस वार्षिकोत्सव में जो उक्त सौंपने के बाद हुआ था,

"The object of the C. H. College has been, and the object of the Hindu University will be, to combine all that is best in the cultures of the east and of the west. And it goes without saying that the essence of the culture of the east is religion, or the observance of our ancient Dharma."

"सेंट्रल हिन्दू कालेज का लक्ष्य रहा, और हिन्दू युनिवर्सिटी का लक्ष्य होगा, कि पूर्व और पश्चिम दोनों की सभ्यताओं शिष्टताओं के जो उत्तम अंश हैं उनका सम्मेलन किया जाय, और यह स्पष्ट है कि प्राचीन सभ्यता का हृदय धर्म है।" अभी इसी मास की ति. ६ को मेरे पास 'सेकेंडरी एजुकेशन कमीशन' के सदस्य आये थे। अन्य प्रश्नों के साथ उन्होंने पूछा, कि हिन्दू कालेज की क्या विशेषता थी; मैंने यही कहा, 'हिन्दू धर्म के तात्विक रुप की शिक्षा।' उसके दो दिन पीछे, ति. ४ को, एक अमेरिकन मित्र का पत्र मुझे मिला,

जिससे न्युयोर्क के 'हेरलुड्ट्राइब्युन्' नामक दैनिक के तिं. २७ अक्तूबर के अंक की कतरन थी; वह मैं आपको सुनाता हूँ।

ITHACA, N. Y., Oct. 26—Anabel Taylor Hall. Cornell University's interfaith center and World War II memorial, was dedicated to-day. Its donor, Myron C. Taylor, the president's representative at the Vatican from 1939 to 1950, called upon the religions of the world to unite "under one banner" to resist threats to peace.

"Religion" he said in his presentation address, "is the only force that can bind people together to resist evil influences and actions. Nothing but a common front with religion can save the world from catastrophe."

The English Gothic building, erected at a cost of 2,000,000 dollars is named after Mr. Taylorls wife. The names of 478 Cornell students and alumni who died in World War II are inscribed on a stone tablet in the entrance. The hall contains a chapel seating 150 which has a triangular turn-table on which are mounted two altars, one Christian and one undenominational, and an ark of the covenant to be used in Jewish services. There is an auditorium for large meetings.

अर्थात "आज ता० २६ अक्तूबर को, इथाका नामक नगरमें कार्नेल युनिवर्सिटी में, सर्व-धर्म-केन्द्र और द्वितीय विश्व-युद्ध स्मारक का उत्सर्ग हुआ। उसके दाता श्री माइरन सी टेलर, युनाइटेड़ स्टेट्स के राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रुप से, समग्र रोमन कैथलिक ईसाई सम्प्रदाय के परमधर्माचार्य जगद्गुरु पोप के पास, सन् १९३९ से १९५० ई० तक रहे। उन्होंने उस दिन अपने भाषण में संसार के सर्व धर्म-सम्प्रदायों का आमंत्रण और आवाहन किया, कि सब एक ध्वजा के नीचे एकत्र होकर जगत् की शांति को भंग करने वालों को रोकें। उन्होंने कहा कि धर्म ही वह शक्ति है जो सब मानवों को एक में प्रेम के बंधन में बाँध सकती है, और सब पापाचारों को रोक सकती है। बीस लाख डालर के (जो आज के एक्सचेंज रेट से प्राय: एक कोटि रुपयों के तुल्य हैं) व्यय से यह भवन बनाया गया है और दानी महोदय की पत्नी के नाम से "ऐनाबेल-टेलर हाल" उसका नाम रक्खा गया है। उसके प्रवेश द्वार पर बृहती शिला पर युनिवर्सिटी के उन ४७८ छात्रों के नाम उत्कीर्ण हैं, जिन्होंने द्वितीय विश्व युद्ध में अपने प्राणों की आहुति दी। ईसाई, यहूदी, तथा अन्य धर्म सम्प्रदायों के लिये, ईश्वर वंदना के अर्थ, स्थान बनाये हैं। बड़े समागमों के लिये बड़ा हौल बना हुआ है।'

जगत्प्रसिद्ध ग्रंथकार एच० जी० वेल्स ने, जिनके ग्रंथ, "आउट् लाइन आफ़ हिस्टरी" और "शार्ट हिस्टरी आफ दि वर्ल्ड", भारत की शिक्षा संस्थाओं के पाठ्च क्रमों में भी रक्खे गये हैं, एक स्थान पर लिखा है,

"The coming world state will be based upon a common world religion, very much simplified and universalised and better understood." "भविष्य में बनने वाले जगद्राष्ट्र की नीवी, एक विश्व धर्म होगा, जो बहुत सरल, सुबोध, जटिलता रहित और सर्वव्यापी होगा।"

वाइकौंट साम्युएल, प्रेसिडेंट आफ़ दि ब्रिटिश् इंस्टिटयुट् आफ फिलोसोफी में, जिन्होंने यहाँ हिन्दू युनिवर्सिटी में भी व्याख्यान दिया है, सन् १९३८ के जनवरी मास में कलकत्ता और इलाहाबाद के विश्वविद्यालयों में भाषण करते हुए कहा,

"Bernard Shaw has declared that civilisation needs religion, as a matter of life and death. We all recognise that the mind of man in our times is confused. The present generation is beset by anxieties and perils. Our escape, our rescue, from these, depends upon our finding a new synthesis between Philosophy and Science and Religion. The World Fellowship of Faiths is working in this direction. *We must emphasise the points of agreement between the religions, rather than points of difference*".

अर्थात् "बर्नर्ड शा ने कहा है कि सभ्यता के लिये धर्म ही प्राण है, जीवन है, उसका अभाव ही मृत्यु है। हम सब अनुभव कर रहे हैं कि वर्तमान काल में मानव मात्र का मन किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया है।. विविध चिंताओं और भयो से ग्रस्त है। इनसे बचने का उपाय एक ही है, विज्ञान और प्रज्ञान और धर्म का समन्वय। वर्लड् फेलोशिप आफ फेथ्स इसके लिये काम कर रही है। सब धर्मों में जो अंश समान हैं उसी पर हमको ध्यान और बल देना चाहिये; जो भिन्न हैं उन पर नहीं।"

इस सबसे आपको विदित हो गया होगा कि सभी देशों के सभी विचारशील विख्यात विद्वान्, सद्धर्म के विश्वास को, मानव कल्याण के लिये, कितना आवश्यक मानते हैं। न मानने के ही फल दो विश्वयुद्ध हुए, और तीसरे की तैयारी है।

टेक्स्ट बुक्स आफ सनातन धर्म में, केवल एक हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में से समान अंश को निकाल कर एकत्र किया है। सब धर्मों में एक रूप से व्याप्त धर्म सार का प्रदर्शन अन्यत्र 'एसेंशलयुनिटी आफ़् आल् रिलिजन्स्' नामक ग्रंथ में मैंने किया है।

यह बात, हृदय और मस्तिष्क में बैठा लीजिये कि सद्धर्म की शिक्षा बिना सब शिक्षा निष्फल दुष्फल है और सदाचार की नीव सद्धर्म है; देखिये, सभी धर्म कहते हैं—"डू अन्टु

अदर्स ऐज यूवुड् बी डन् बाइ"; 'उन्ने बाख़ुद न पसन्दी, बादीगराँ व पसंद', अफ़ज़लुल् ईमानिउन् तोहिब्बा लिन्नासे मातोहिब्बो लिनफ़्सिका, व तक्रहो लहुम् मातक्रहो लिनफ़सिका', 'श्रूयतां धर्मं सर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यतां, न तत् परस्य कुर्वीत स्याद् अनिष्टं यद् आत्मनः, यद् यद् आत्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिंतयेत्', (म. भा.) 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति यो ऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं, स योगी परमो मतः।' इन सब वाक्यों का अर्थ एक ही है, जो अपने लिये चाहो वह दूसरों के लिये भी चाहो, और जो अपने लिये न चाहो वह दूसरों के लिये भी न चाहो; यही धर्म सार है, धर्म सर्वस्व है। पर क्यों ऐसा करो, इसका संतोषजनक उत्तर, केवल उपनिषदों में कहे वेदांत से मिलता हैं; अर्थात् 'इसलिये कि जो तुम हो वही दूसरा है, जो सुख-दुःख दूसरे को देते हो, वह तत्वतः, अंततः, अपनें ही को देते हो; इसलिये वह लौटकर तुमको अपने कर्म के फलस्वरूप, कभी न कभी अवश्य मिलेगा।' पाश्चात्य-विज्ञान-सम्मत क्रिया-प्रतिक्रिया-न्याय, और कार्य-कारणन्याय, Action and Reaction are opposite and equal, और Law of Cause and Effect, इसी अध्यात्मिक सत्य के आधिभौतिक रुप हैं, उन सबका समाधान वर्णाश्रम-धर्म से ही होता है, अन्यथा नहीं हो सकता।

पहिले कहा कि हिन्दू समाज को 'सच्चे स्वराज' के योग्य बनाना है, तो क्या जो स्वराज हम लोगों को किसी प्रकार मिल गया है वह सच्चा स्वराज नहीं है ? मेरी समझ में वह सच्चे स्वराज से अभी बहुत दूर है। क्रमशः शासक वर्ग और महाजन, अर्थात् पब्लिक, जनसमूह, बहुत ठोकरें खाकर सच्चे स्वराज का रुप पहिचानेंगे, और उसके अनुसार राज्य का प्रबन्ध करने और कराने का यत्न करेंगे। मनु का आदेश है, सर्वभूतेषु चऽात्मानं, सर्वभूतानि चऽात्मनि, समं पश्यन्, आत्मयाजी, स्वाराज्यं अधिगच्छति; नहि अनध्यात्मवित् कश्चित् क्रिया फलं उपाश्रुते'। कृष्ण ने भी कहा है, 'अध्यात्मविद्या विद्यानां, वाहः प्रवद्तां अहं'। अर्थात्, 'जो सब जीवों में एक ही परमात्मा को, और सब जीवों को उसी एक में, विद्यमान जानता है, वही स्वाराज्य को पाता है, जो अध्यात्मविद्या के इस गंभीर तत्व को, तथा मनुष्य की प्रवृत्ति को, स्वभाव को, नहीं जानता, उसकी कोई भी क्रिया सत्फलदायक नहीं होती'।

यह परमात्म-भाव और अध्यात्म-भाव, उपनिषदों में और ऋषिकृत दर्शन-सूत्रों और भाष्यों में भरा है। ये परस्पर विरोध और खंडन नहीं करते, प्रत्युत सभी, भिन्न मार्गों से, एक ही सर्वसम्मत लक्ष्य की ओर ले जाते हैं, और परस्पर मंडन करते हैं।

प्रचलित व्यामोहों को हटाकर प्राचीन आर्ष औपनिषद वेदांत पर प्रतिष्ठित सत्य सनातन धर्म को कैसे पुनः फैलाया जाय और उसके अनुसार सच्चे वर्णाश्रम धर्म का प्रचार कैसे हो ? देखिये। अंग्रेजी शासक, यहाँ से जाते हुए, अपनी भलाइयाँ, अपने गुण, अपने साथ लेते गए, और अपनी बुराइयाँ, अपने दोष, छोड़ गये। उन दोनों की गिनती के लिये पर्याप्त समय नहीं हैं, अन्यत्र किया है। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि उनके दोषों को हमारी ना-समझ जनता ने, और जनता के चुने हुए अदूरदर्शी शासकों ने, दौड़कर बड़े हर्ष से अपनाया।

यह सब मैं अपनी बुद्धि के बल नहीं कह रहा हूँ; यदि ऐसा करता तो अक्षम्य अपराधी अहंमानी होता। मैं प्राचीन ऋषियों और मनु, राम, और कृष्ण के आदेश-उपदेश के बल पर कह रहा हूँ।

अंग्रेजों की जिन बुराइयों को नए शासकों ने अपनाया, उनमें यहाँ प्रसंग वश सबसे पहिले "सेक्युलर" नीति का नाम लेना पड़ता है, अर्थात् सर्कारी स्कूलों कालेजों में धर्म की शिक्षा का निषेध है। यह किसी से छिपा नहीं है कि समग्र भारत में और विशेष कर उत्तर भारत अर्थात् बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश में विविध प्रकार के दुष्टाचार भ्रष्टाचार व्याप्त हो रहे हैं। कोई दिन नहीं जाता जिसके दैनिकों में हत्या, डकैती, लूट, आग लगाना, रेल गिराना, स्त्रियों की चोरी, स्त्रियों पर बलात्कार, सर्कारी नौकरों का उत्कोच ग्रहण, प्रजापीड़न और स्त्रियों का अपहरण, एवं व्यापारियों की विविध प्रकार की चोर बाज़ारी आदि का समाचार न रहता हो। शासकों की ओर से, इनको रोकने के लिये, कई प्रकार के उपाय किये गये, सब व्यर्थ रहे। 'मरज़ बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की।' उपाय सफल कैसे हों? जो ही एक मात्र ठीक उपाय है, उसकी उपेक्षा किंवा विरोध, अर्थात् धर्म की शिक्षा का निषेध। जो संस्थाएँ, आरम्भ से ही, धर्म शिक्षा को अपने उद्देश्यों में गिना कर स्थापित हुईं, उनमें यह निषेध कैसे हो सकता है, जैसे यह हिंदू युनिवर्सिटी और अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी? अतः इनके लिये भारत के नये संविधान में विशेष प्रबंध कर दिया गया है। पर अधिकांश लड़की लड़के म्युनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के स्कूलों में पढ़ते हैं, तथा उन युनिवर्सिटियों में जैसे आगरा, इलाहाबाद, लखनऊ, दिल्ली की और कालेजों में जैसे मेरठ, मुज़फ्फर नगर आदि, अथ च समग्र भारत की ऐसी शिक्षा संस्थाओं में, एवं उन सब संस्थाओं में, जो 'बोर्ड आफ़ स्कूल ऐंड इंटरमीडिएट् एक्ज़ामिनेशन' के और 'डाइरेक्टर आफ़ पब्लिक इंस्ट्रक्शन' के अधीन हैं; एवं 'टीचर्स ट्रेनिङ्ग कालेजों' में; यद्यपि अध्यापकों में धर्म भाव जगाना पहिले चाहिये; क्योंकि यदि उनमें नहीं है तो उनके विद्यार्थियों में कैसे होगा? चारो ओर शिकायत हो रही है कि छात्र बहुत उच्छृंखल, उद्धत, मर्यादाहीन, विनयन-अनुशासन हीन हो गए हैं और होते जाते हैं। क्यों न हों? उनको उपयोगी शिक्षा ही नहीं दी गई। 'मूलं नास्ति, कुतः शाखा'? 'आचार्य' शब्द की पुरानी परिभाषा है, 'आचिनोति च शास्त्रार्थान् धर्म्यान्, आचारयति अपि शिष्यान्, स्वयं चाचरति, तस्माद् आचार्य उच्यते। आचरणेन शिक्षयति, तस्माद् आचार्यः'। जो अपने सदाचार के निदर्शन से शिष्यों को सदाचार सिखावे वही सच्चा आचार्य। Example teaches better than precept. जो सदाचार का केवल उपदेश करता है, स्वयं तदनुरूप आचरण नहीं करता, उसकी बात का विश्वास कोई नहीं करता, प्रत्युत उसके हीन आचरण का ही अनुकरण करता है। आजकाल युनिवर्सिटियों और कालेजों में, तुच्छ स्वार्थों के लिये अध्यापकों में दलबंदियाँ होती हैं, संघर्ष होता है, छात्रों में भी वैसा ही। अभी ६ नवम्बर को उत्तर प्रदेश की विधान परिषत् में, आगरा युनिवर्सिटी सम्बन्धी एक विधेय का प्रस्ताव करते हुए शिक्षा-मंत्री ने कहा, "The universities of Agra and Allahabad and the Board of High School and Intermediate Examination had become hotbeds of caucuses, corruption, nepotism, and shameless loot.

He told how it (Agra University) had been in the clutches of unscrupulous cliques since 1938. He quoted the findings of the Acharya Narendra Deva Committee which was set up at the time. (He said his bill) ended once and for ever, the mischievous system of election in educational institutions, which was responsible for the new class of teacher politicians". अर्थात् 'आगरा और इलाहाबाद के विश्वविद्यालय और हाई स्कूल व इंटरमीडियेट परीक्षा के बोर्ड, गुटबंदियों, दुराचारों, पक्षपातों और निर्लज्ज लूट के केन्द्र हो गये हैं। आचार्य नरेन्द्र देव की कमेटी की रिपोर्ट में से उन्होंने उद्धरण सुनाये, और कहा कि जिस विधेय का मैं प्रस्ताव कर रहा हूँ उससे शिक्षा संस्थाओं में, विविध स्थानों के लिये अब तक जो बहुत हानिकर दोषकर निर्वाचन प्रथा चल रही है वह सदा के लिये बंद हो जायगी, जिस प्रथा से ऐसे अध्यापकों का निर्वाचन होता रहा है पालिटिशन अर्थात् चालबाज होते रहे हैं।' किन्तु इसी निर्वाचन रीति से स्वयं शिक्षा मंत्री तथा अन्य सभी मंत्री और विधान विधाता 'पालिटिशन' सदस्य भी चुने गये हैं, और इनमें भी वैसी ही दलबंदियाँ और संघर्ष होते हैं। तथ्य यह है कि निर्वाचन पद्धति में स्वतः दोष नहीं है। बुद्ध देव के समय से, और उसके भी सहस्त्रों वर्ष पहिले से, पंचायतों के सरपंच, पुर और जनपद के निगम, श्रेणी, ग्राम, और सार्थ आदि के प्रमुख, यहाँ तक कि समय समय पर राजा भी, चुने जाते थे। दोष है निर्वाचकों में, अशिक्षित, कुशिक्षित, स्वार्थांध, सद्धर्म रहित, सद्बुद्धिहीन ही प्रायः होते हैं, अतः उनके निर्वाचित भी वहुधा ऐसे होते हैं। इस हेतु से यह सब दुर्दशा, न केवल शिक्षा संस्थाओं की, अपितु समग्र देश की हो रही है। सभी अध्यापक, किसी भी शास्त्र के पढ़ाने वाले, 'कर्मणा ब्राह्मण' हैं, उनमें ब्राह्मणोचित गुण जो स्मृतियो में, गीता में, इतिहास में, कहे हैं, वे होने चाहियें। आजकाल के शब्दों में missionary spirit धार्मिक बुद्धि, न कि mercenary spirit धनलोभी बुद्धि। इस प्रकार के संघर्ष उस 'स्पिरिट्,' उस भाव, के विपरीत हैं। स्मरण रहे कि अंग्रेजों ने भारत मे तो 'सेक्युलर' नीति वर्ती, किन्तु ब्रिटेन में जितनी भी प्रतिष्ठित और सौ वर्ष से पूर्व की शिक्षा संस्थाएँ हैं, उन सब में 'आंग्लिकन चर्च' के अनुकूल 'स्टेट-रिलिजन' की शिक्षा दी जाती है, अध्यापकों और छात्रों को रविवार के दिन 'चर्च' और 'चापेल' में जाकर, ईश वंदना प्रार्थना और भजन में, सम्मिलित होना पड़ता है; और जो मुख्य-मुख्य स्कूल हैं यथा 'ईटन', 'हॅरो', 'विंचेस्टर' आदि उनके प्रधान, 'प्रिन्सिपल' वा 'हेडमास्टर', 'बिशप' की पदवी के अधिकारी पादरी-ब्राह्मण ही होते है, और 'बिशप' के तुल्य उनका गौरव माना जाता है। भारत में भी अंग्रेजी सर्कार ने, कई कोटि रुपये प्रतिवर्ष के व्यय से एक 'इक्लीजिपारिटकल डिपार्टमेंट' चला रक्खा था, 'सिविलियन' और 'मिलिटरी' अंग्रेजों तथा अन्य ईसाईयों के लिये। सभी अध्यापकों में ऐसा सद्ब्राह्मणोचित 'मिशनरी' भाव होना चाहिये।

'तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं पर', 'यस्मिन् तपश्च विद्या च, स एव ब्राह्मणः स्मृतः'। जिसमे तपस्या भी, विद्या भी, दोनों हैं, वही सद्ब्राह्मण है, वही छात्रों को शिक्षा देने का अधिकारी है।

हिन्दू कालेज और हिंदू गर्ल्स स्कल मे प्रायः बारह वर्ष तक ऐसे अध्यापक अध्यापिकाएँ रहीं। डाक्टर रिचर्डसन् का नाम पहिले कहा। इंग्लैंड में, ब्रिस्टल कालेज में, केमिस्ट्री के प्रोफेसर रहे। किसी कारण से, उस काम और स्थान से वैराग्य हुआ; श्रीमती बेसेन्ट के कुछ व्याख्यान सुने; भारत आये। सन् १८९७–९८ में पूना में और उसके आसपास प्लेग महा-मारी का कोप हुआ; रोगियों की सेवा सहायता करने वहाँ गये। जब हिन्दू कालेज की स्थापना हुई, तब श्रीमती बेसेंट के कहने से यहाँ आये; अवैतनिक प्रिंसिपल हुए। कुछ थोड़ी सी सम्पत्ति थी, जिससे प्रायः १००) महीने की आय थी। उसी से अपना निर्वाह करते थे। हम लोगों ने कितना कहा, पर संस्था से एक पैसा भी निजी काम आराम के लिये नहीं लिया। गर्मी बरसात में श्वेत अवसीय (धोती) और कुर्ते, हिन्दुओं के से पहिनते थे। जाड़ों में यहीं के बाजार (आपण) से प्रतिवर्ष एक जोड़ कम्बल, भेड़ के बाल के खरीद लाते थे, एक बिछाते थे एक ओढ़ते थे; जाड़ा बीतने पर किसी को दे डालते थे। उस सौ में से भी कुछ न कुछ बचाकर, वित्तहीन विद्यार्थियों को दे दिया करते थे। वेद की आज्ञा है "यः आवृणोति अवितथेन ब्रह्मणा शिष्यस्य श्रोत्रं, अमृतं संप्रयच्छन्, तं जानीयात् पितरं मातरं च, तं न द्रुह्येत् कतमच्चनास"। शिष्य को जो सनातन अमर तथ्य दिखाता है, उससे कभी द्रोह नहीं करना, उसको माता पिता ही समझना। विद्यार्थी उनको ऐसा ही मानते भी थे पर, छात्रों से इतना स्नेह करते हुये भी, विनयन, 'डिसिप्लिन्' में शिथिलता नहीं आने देते थे। संस्था के दुर्भाग्य से, और प्रायः दिन-रात योग्याशाला, 'लाबोरेटरी,' में काम करते रहने से (क्योंकि अन्य उनको कोई मनबहलाव नहीं था) पक्षाघात, 'पैरालिसिस', हो गया। तीन वर्ष पड़े रहे। जो भी सम्भव था उनकी सेवा शुश्रूषा का प्रबंध कर दिया गया। जून १९१२ में देहान्त हुआ। बहुत पहले लिख दिया था कि शरीर का अंत्य संस्कार अग्नि से हो। गर्मियों का अनध्याय था, अतः संस्था के अध्यापक और छात्र जो काशी से बाहर, दूर दूर के नगरों के रहने वाले थे, अपने अपने घरों को चले गये थे। पर यहाँ नगर में कहला दिया था। शरीर को हिन्दू ही, हम सब, उनकी चारपाई पर रख कर, राजघाट के पुल के नीचे ले गये। सैकड़ो प्रतिष्ठित नागरिक वहाँ एकत्र हुये। मैंने पहिले उनको अग्नि दिया, चिता की परिक्रमा करके, गीता के श्लोक और ईशोपनिषद् के मंत्र पढ़ते हुए,

> ॐ, अग्ने ! नय सुपथा राये अस्मान्, विश्वानि देव ! वयुनानि
> विद्वान्, युयोधि अस्मत् जुहूराणं एनः, भूयिष्ठां ने नमः
> उक्ति विधेम। हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यऽपिहितं मुखं,
> तत्त्वं पूषन् ! अपावृणु, सत्यधर्माय दृष्टये।"

कुछ दिन पीछे कालेज में पंडितों की सभा हुई, महामहोपाध्याय पंडित आदित्य राम भट्टाचार्य जी के सभापतित्व में। काशी के प्रायः सवा सौ गण्य मान्य पंडित आए। उन्होंने डाक्टर रिचर्डसन् के और संस्था के कार्य का आदर किया, दक्षिणा स्वीकार की, आशीर्वाद दिया। काशीनरेश के सभा पंडित आए; सभा के विसर्जन के पश्चात्, उन्होने मुझ से कहा, 'महाराज कहते थे, भगवान् दास ने ऐसा अनुचित काम क्यों किया, अंग्रेज़ के शरीर को अग्नि दिया।' मैंने दूसरे दिन तीन चार श्लोक बनाकर महाराज के पास भेजा; उनमे से केवल पहिला याद है, वह आपको सुना देता हूँ,

"गृध्रं ददाह भगवान् रघुवंशवीरः, कर्मौर्ध्व दैहिकमथास्य चकार मंत्रैः,
जानन् कृतं च, सुकृतं व, परावरज्ञः; कस्याद् भवेम मनुजेऽपि वयं कृतघ्नाः।"

'भगवान् रामचंद्र ने गृध्र जटायु की अंत्येष्टि अग्नि से की। गोदावरी के जल में खड़े होंकर विधिवत् वैदिक मंत्रों से तिलांजलि दी। हम लोग ऐसा भारी उपकार करने वाले मनुष्य की ओर कैसे कृतघ्न हों?' महाराज ने समझा, माना, कहला भेजा, अनुचित नहीं किया उचित किया।

डाक्टर रिचर्डसन् की रुग्णावस्था में, महामहोपाध्याय पं० आदित्य राम जी अवैतनिक वाइस् प्रिंसिपल रहे; तथा उनके पुत्र श्री सत्यव्रत भट्टाचार्य एम. ए., एल. एल. वी. भी वैसे ही, 'इकोनोमिक्स' के प्रोफेसर रहे। तथा श्री इन्द्र नारायण सिंह एम. ए., मिस आरंडेल, उनके पुत्र डाक्टर आरंडेल, श्री पंढरिनाथ काशीनाथ तेलंग, मिस लिलियन एड्गर, मिस पामर, प्रोफ़ेसर जमशेदजी उनवाला, मिस हेरिङ्टन, पं० छेदीलाल जी, मिस विल्सन, प्रोफेसर वुडहाउस, मिसेस लोइड, डाक्टर इकबाल नारायण गुर्टू तथा अन्य सज्जन, शिक्षा विभाग में वा 'आफिस' कोष आदि के कार्यालय में। अब उस मंडली में से केवल गुर्टू जी और श्री ज्ञानेन्दुनाथ वसु जी (जो अब कलकत्ता ही में रहते हैं, और प्रायः मेरे ही इतने वृद्ध हैं) रह गये हैं। तथा मेरे छोटे भाई श्री सीताराम साह जो बहुत वर्षों तक सेंट्रल हिन्दू कालेज की प्रबंधक समिति के असिस्टेंट सेक्रेटरी और बालिका पाठशाला की समिति के सदस्य रहे। प्रोफेसर श्यामा चरण दे जी ने भी इस संस्था की बहुत बड़ी सेवा सहायता की है, और अपना सर्वस्व इसको दान दे दिया है; संस्था के सौभाग्य से अब तक शरीर धारण किये हैं यद्यपि अभी अभी बहुत रुग्ण हो गये थे और बहुत दुर्वल हो रहे हैं; ये कुछ पीछे यहाँ आये, १९१३ में।

प्रोफेसर तेलंग केवल अवैतनिक अध्यापक ही नहीं थे, अपितु अपने पिता, बम्बई हाईकोर्ट के जस्टिस श्री काशीनाथ त्र्यंबक तेलंग का बहुमूल्य संचय, प्रायः छः सहस्र उत्तम पुस्तकों का इस संस्था को उन्हों ने दे दिया। जो सज्जन स्वतः सम्पन्न न होने के कारण, पुरस्कार लेते थे वे भी प्रायः निर्वाह मात्र भर।

ऐसे मिशनरी भाव के ब्राह्मणों की छाया में रहकर जिन्हों ने शिक्षा पाई, उनके ऊपर जहाँ तक मुझे विदित है इस संस्था की छाप आज तक है और जिस-जिस काम में लगे हैं उसमें प्रायः नेक नाम हैं। कई हाईकोर्ट के जज हैं, कई केंद्र में तथा उत्तर प्रदेश में मंत्री हैं, इत्यादि।

संस्था के आरम्भिक आदर्शों के वर्णन में उक्त सज्जनों का कीर्तन आवश्यक अंग है। उन्हीं के सद्भाव और परिश्रम से उन आदर्शों की पूर्ति यथा कथंचित् होती रही, इसलिये कुछ विस्तार से कहा। जब हिन्दू कालेज विश्वविद्यालय में मिल गया, उसके बाद यहाँ भी दलबंदियाँ आरम्भ हुईं। पहिले तो संस्कृत विभाग के अध्यापकों में और सिंडिकेट, सिनेट, कौंसिल, कोर्ट, तथा अन्य अवांतर समितियों मे एक-एक दल के पक्षपातियों समर्थकों में, फिर प्रत्येक विभाग के अध्यापकों में, परस्पर स्पर्धा संघर्ष चला; क्रमशः बढ़ता

गया। एक दो प्रोफेसर पंडित, उनके अनाचार सिद्ध होने पर, हटाये गये; कई स्वयं छोड़कर दूसरे विद्यालयों में चले गए। छात्रों में भी प्रान्तीयता बढ़ी, अनाचार, कुकृत्य, अनुशासन भंग, औद्धत्य, साइनेमा का अत्यंत शौक, तत्संवद्ध सर्वविदित दुराचार भी बढ़े; आपस में मारा मारी की नौवत आई। ऐसे ही कारणों से, भारत के प्रेसिडेंट डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजी ने आचार्य नरेन्द्रदेवजी को यहाँ भेजा। जब तक ये लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति रहे वहाँ बहुत कुछ शान्ति थी। कारण, वही त्याग, तपस्या, विद्या, सादी रहन सहन, छात्रों पर स्नेह, छात्रों का हितचिन्तन। इनके यहाँ आने पर लखनऊ के छात्रों ने बहुत दुःख माना, यहाँ के छात्रों को हर्ष हुआ। यहाँ की भी हवा बदल रही है, और आशा है कि दिनों दिन अच्छी होती जायगी।

आप के कुलपति जी मेरे बहुत प्रीति पात्र हैं; मेरे साथ काशी विद्यापीठ में इन्होंने कई वर्ष काम किया है। पर इनमें एक बड़ा दोष है, जिससे मेरी प्रीति कभी-कभी कुछ थोड़ी देर के लिये कम हो जाती है। समाजवाद, साम्यवाद, आदि के झमेले में पड़ गये हैं। इससे यहाँ के अध्यापकों और छात्रों में इन नये प्रकार की दलबंदियों के उठ खड़े होने का भय है; और अन्यथा भी, यहाँ के काम में विघ्न होता है। मैंने इनको कई बार समझाने का यत्न किया कि सत्य वर्णाश्रम धर्म के रूप को स्वयं समझिये और इस संस्था में तथा बाहर भी उसके प्रचार का यत्न कीजिये; उससे और उसी से, जितने भी 'इजम्', 'वाद', हैं, (सोशलिज्म, कम्युनिज्म, मिलिटरिज्म, इम्पीरियलिज्म, प्रोलिटेरियनिज्म, इक्वालिटेरियनिज्म, इंडिविडिचुअलिज्म, डिक्टेटरिज्म, आदि) जो मानवमात्र को घोर भ्रम, विवाद, विरोध, विनाशकारी संग्राम में डाल चुके, और डाल रहे हैं, उन सबका समन्वय सम्वाद केवल एक 'इज्म', extremism, को, आत्यंतिकता को, छोड़ देने से हो जायगा; सब वादों का जो लक्ष्य है, वह न्याययुक्त उचित मात्रा मे सबको मिल जायगा; अर्थात् अधिकांश सुख और अल्पांश दुःख। पर उन्होंने इस ओर ध्यान नहीं दिया; यहाँ अध्यापकों और अध्यापिकाओं से और इनसे भी पुनः प्रार्थना करता हूँ कि, आप सब लोग इस बात पर गम्भीर विचार करें। कई वर्ष हुए श्री नरेन्द्रदेव जी ने मुझको एक अंग्रेजी पुस्तक पढ़ने को दी; उसकी सूची से विदित हुआ कि समाजवाद 'सोशलिज्म' के बावन भेद उसमें वर्णित हैं। पढ़ने लगा; कठिनाई से आधी पुस्तक पढ़ी; उन भेदों के सूक्ष्म-सूक्ष्म लक्षण समझ में नहीं आते थे; मस्तिष्क चक्कर खाने लगा; पुस्तक मैंने इनको लौटा दी। विपरीत इसके, वर्णाश्रम धर्म में कोई अवांतर भेद नहीं हैं, सीधे सादे सिद्धान्त हैं, और मानव जीवन की सब ग्रंथियों को सुलझा देते हैं, यदि उदार बुद्धि और विवेक से उनसे काम लिया जाय। "उत्तमं जन्मकर्मभ्यां, कर्मणैव तु मध्यमं, जन्मनैव तु मिथ्यैव, वर्णवत्त्वं स्मृतं बुधैः"। "ब्रह्मचारी, गृहस्थश्च, वानप्रस्थो, यतिस्तथा, एते गृहस्थप्रभवाः, चत्वारः पृथग् आश्रमाः। सर्वेषां अपि चैतेषां, वेद-श्रुति-विधानतः, गृहस्थः उच्यते श्रेष्ठः, सः त्रीन् अन्यान् विभर्ति हि। यस्मात् त्रयोऽन्याश्रमिणः, ज्ञानेनऽन्नेन चऽन्वहं, गृहस्थेनैव धार्यंते, तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही"। इन मूल वाक्यों की विस्तीर्ण व्याख्या का यहाँ अवसर नहीं, अन्यत्र मैंने की है।

एक और बात भी मैंने श्री नरेन्द्र देव जी से कही है; और उन्होंने ध्यान देने को

कहा भी है; अर्थात् टेक्स्ट बुक्स औफ़् सनातन धर्म का विश्वविद्यालय में, तथा उसके अधीन सब संस्थाओं मे उपयोग। ऐसा हो जाने से भी बहुत काम निकलेगा।

एक अन्य मंत्री ने एक विद्यार्थी सभा में थोड़े दिन हुए, दक्षिण के एक बड़े नगर में कहा था कि विद्यार्थियों को सरकारी नौकरी ही लक्ष्य नहीं बनाना चाहिये। बहुत ठीक; पर यह भी तो बताइये कि क्या-क्या लक्ष्य बनाने चाहियें, और उनको साधने वाली शिक्षा भी दीजिये। पुरानी कहावत है,

> कला बहत्तर पुरुष की, वामे दो सर्दार,
> एक जीव की जीविका, एक जीव उद्धार।

विदुर नीति में 'अर्थकरी विद्या' की प्रशंसा की है। ऐसी विद्या, 'वोकेशनल ट्रेनिङ', प्रत्येक विद्यार्थी की स्वाभाविक रुचि के अनुसार परमावश्यक है। हिन्दू कालेज की प्रबंध समिति ने इस बारे में ध्यान दिया था। 'स्लाइड' अर्थात् बढ़ई, वर्धकि, का काम, 'क्ले-माडेलिङ' मिट्टी के खिलौने बनाना, 'रिलीफ मैप,' काठ के फलक पर, मिट्टी से भारत वा अन्य देश के, उभरे हुए मान चित्र बनाना, जैसा श्री शिव प्रसाद गुप्त जी के बनवाये भारत माता मंदिर में, भारत का, मर्मर से, बना है। ऐसी शिक्षा से विशेष जीविका की आशा तो क्या हो सकती थी, पर उसका आशय यह था कि हाथों की कारीगरी और परिश्रम का अभ्यास छात्रों को हो जाय। एक संगीताध्यापक भी रक्खे गए थे। अब इस विश्वविद्यालय में प्रायः १२५ भिन्न-भिन्न विषय सिखाये जाते हैं; उद्देश्य सबका यही है कि जीविका की उपयोगी यह सब शिक्षा हों, पर जहाँ तक मुझे पता है अधिकांश छात्रों को शिक्षा समाप्त करने के बाद, किसी प्रकार की नौकरी ही की खोज होती है; कई कारणों से। अच्छा हो यदि यहाँ से शिक्षा पाये छात्रों का रजिस्टर रक्खा जाय और उनको अंतिम शिक्षा यह दी जाय कि जिस व्यापार में लगो, उसकी सूचना रजिस्ट्रार को भेज दो। ऐसे रजिस्टर से, आगे चल कर, उपयोगी बातें निकलेंगी। हिन्दू कालेज में, पहिले ऐसा एक 'ओल्ड बायज रजिस्टर' रक्खा जाता था। जीविकासाधनोचित शिक्षा के लिये तो कैरियर्-मास्टर्स की आवश्यकता है, जैसे ब्रिटेन की सब शिक्षा संस्थाओं में रक्खे जाते हैं। प्राचीन काल में यह कार्य कुलपति और शिक्षक आचार्य करते थे। सब प्रान्तों और राज्यों से सहायता ली गई थी और संस्था सब हिन्दुओं के उपकार के लिये बनी थी, इसलिये आरम्भ से ही यह यत्न किया गया था कि अध्यापक भी सब प्रान्तो से लिये जायं और छात्र भी; और सब छात्र एक साथ छात्रावासों में रहें, और एक साथ निरामिष भोजन करें। इस प्रकार से भी प्रान्तीयता भाव की कमी, और भारतीयता भाव की वृद्धि, की आशा थी। अनुषंगतः हिन्दी भाषा का ज्ञान भी सब प्रान्त के छात्रों को हो जाता था। स्कूल में प्रतिदिन संस्कृत के वा अन्य अध्यापकों के साथ सब छात्र शर्गा हाल में एकत्र होकर ईश्वर वंदना के स्तोत्र के कुछ श्लोकों का गान करते थे, फिर वह अध्यापक, धर्म और सदाचार विषयक छोटा सा प्रवचन करते थे, फिर अपने-अपने वर्गों में जाकर पढ़ते थे। कालेज विभाग में सप्ताह में दो दिन सब छात्र, 'प्रभुनारायण हाल' में पहिले घंटे में एकत्र होते थे, और उनको सनातन धर्म विषयक शिक्षा दी जाती थी, और शंकाओं का समाधान किया ज.ता था; यह कार्य मेरे जिम्मे था। आज-

काल का अंग्रेजी पढ़ने वाला विद्यार्थी 'पोथी में लिखा है, इसलिय मान लो,' इतने से संतुष्ट नहीं होता, उसको वैज्ञानिक हेतुओं से समझाना चाहिये, 'reasons for the law' बताना चाहिये, स्वयं ऋषियों का आदेश है, 'हेतुभिर्धर्ममन्विच्छेत्, न लोकं विरसं चरेत्'। सच बोलो, चोरी मत करो; क्यों ? झूठ बोलने से, चोरी करने से ऐसे-ऐसे दोष, यह यह हानि अपने जीवन में भी, और सामाजिक जीवन में भी, उत्पन्न होती है। श्री मालवीय जी स्वयं कभी-कभी गीता पर भाषण दिया करते थे और कुछ समय तक एक धर्मोपदेशक भी रक्खे गये थे। पर जहाँ तक मुझे विदित हुआ है, छात्रों को उन व्याख्यानो और उपदेशों मे रस कम था। स्कूल विभाग में तो स्यात् ऐसा भी प्रबंध नहीं था, यद्यपि वहाँ अधिक प्रयोजन था; 'यत्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नऽन्यथा भवेत्'।

और भी कई बातें हिन्दू कालेज में आरम्भ की गईं। जहाँ तक मुझे विदित है, भारत में 'बाय स्काउटस', 'गर्ल गाइडज,' 'कैडेट कोर' का आरम्भ, श्रीमती बेसेंट के उपदेश से, डाक्टर ऐरंडेल ने और मिस् ऐरंडेल ने, इस संस्था में आज से पैंतालिस वर्ष पहिले किया। दो-दो सौ छात्रों को, एक सा वस्त्र, 'युनिफार्म', पहिना कर सैनिक "ड्रिल" कराई जाती थी। 'नाइट स्कूल' छात्रों द्वारा, आरम्भ किये गये, आस पास के लड़कों को, जो अपने पिता माता के साथ दिन में किसी मिहनत मजदूरी में लगे रहने के कारण, स्कूल में नहीं पढ़ सकते थे, साक्षर बनाने का यत्न किया गया। सन् १९०३ में 'गर्ल्स स्कूल' खोला गया; उस समय काशी में स्यात् दो-तीन अन्य बालिका पाठशाला हों। 'हिन्दू गर्ल्स स्कूल' में, आरम्भ में, २५–३० लड़कियाँ थीं अब प्रायः सात-आठ सौ हैं; दूर-दूर के नगरों से आती हैं; छात्रावास में सैकड़ों रहती हैं, स्कूल से सम्बद्ध अब विमेन्स कौलेज भी विश्वविद्यालय के उपनगर में बन गया है। उसकी देखा देखी बालिकाओं की शिक्षा की चाह नगर में बढ़ी; म्युनिसिपल गर्ल्स स्कूल बहुत हो गये हैं, जिनमें स्यात् कई सहस्त्र कन्या शिक्षा पाती हैं। मुसलमान घरों की भी, जहाँ पर्दा बहुत था।

पं० छेदा लाल जी छात्रावास के अवैतनिक अध्यक्ष थे, उनके प्रबंध से छात्रावासी विद्यार्थियों में, खान-पान में परस्पर अस्पृश्यता का भाव बहुत कुछ दूर हो गया। अब तो अंग्रेजी पढ़ों में काल के प्रवाह से, समग्र देश में बहुत कम हो गया है, और असवर्ण कहलाने वाले विवाद भी सहस्त्रों हो गये और होते जाते हैं; जो स्यात् सदा विवेक पूर्ण नहीं होते। गुण के साथ दोष लगा ही रहता है।

बाल विवाह रोकने के लिये, प्रबंध समिति ने नियम बना दिया था कि विवाहित लड़का स्कूल विभाग से लिया ही न जाय, और कालेज में दूनी फीस दे तो भरती हो। अब तो देश की दशा में इतना परिवर्तन हो गया है, कि कालेज और विश्वविद्यालय छोड़ने के बाद भी कई-कई वर्ष तक, आर्थिक कारणों से, विवाह नहीं होता; तथा कन्याएँ कुमारी ही वृद्ध होने लगी हैं।

एक अन्य मंत्री ने अभी थोड़े दिन हुए, उत्तर प्रदेश के एक नगर में छात्रों की सभा में कहा कि विद्यार्थियों को "पालिटिक्स" में नहीं पड़ना चाहिये। ठीक है; विद्यार्थियों को

राज-शास्त्र का अध्ययन करना, और अपनी कृत्रिम पार्लिमेंट में, नियम संयम से, बिना क्षोभ और क्रोध के, वाद-विवाद का अभ्यास करना चाहिये। याद रहे कि ऐसी कृत्रिम पार्लिमेंट का भी आरम्भ, भारत में, इसी हिन्दू कालेज में, श्रीमती बेसेंट ने कराया, इसी उद्देश्य से कि आगे चलकर, स्वराज की बिधान सभाओं में काम करने के योग्य हों। उन्हींने 'होमरूल' का शब्द महात्मा गांधी से कई वर्ष पहिले, देश को सुनाया, और इसके कारण, कई महीना नीलगिरि पर्वत पर नज़रबंद रक्खी गईं।

वहुत सी बातों में साम्प्रत शासकों की दृष्टि और प्रयत्न अच्छे हैं, और आर्थिक और शैक्षिक उन्नति के लिये बड़ी-बड़ी योजनाएँ भी उन्होंने बनाई हैं। पर कहाँ तक सफल होंगी, इसमें बहुत संदेह होता है। आयोजनों को कार्यान्वित करने वालों के आचरण संदिग्ध होने के कारण अभी थोड़े दिन हुए पंजाब में सवा सौ करोर रुपये के व्यय के अनुमान से भाकरा बंद का आरम्भ हुआ; उसके विषय मे समाचार पत्रों में और स्यात् केन्द्रीय विधान सभा में भी, अपव्यय और चोरियों की शिकायत की गई थी मुझे आक्रोश यही है कि हमारे शासकों और वहुतेरे प्रतिनिधियों की नीति दूरदर्शिनी और संग्राहक, सब गुण दोषों को विचारने वाली, नहीं है। धर्मान्मता, विधिविधाता, को बहुज्ञ बहुश्रुत होना चाहिये।

पौराणिक शिक्षाप्रद कथानक है कि ऋषियों ने सर्व मानव वंश के आदि पितामह मनु से प्रार्थना की, कि मनुष्यों के हितकारी धर्म हमको सिखाइये, क्योंकि, 'सर्व ज्ञानमयो हि सः'; इस विधान से क्या सत्फल होंगे, क्या दुष्फल निकलेंगे, तत्काल में और दूर चलकर भविष्य में, वे इसको पहिचानते थे। आजकाल, इसी देश के नहीं, प्रायः सभी देशों के विधान-कल्पक, 'तदात्वे' को देखते हैं, 'आयत्या' को नहीं; 'आयत्यां च, तदात्वे च' दोनों का अच्छी तरह विचार करलेना चाहिये। 'परिणतिरवधार्या यत्नतः पंडितेन'।

छात्रों को, सक्रिय वास्तविक 'पालिटिक्स से बचने का एक प्रकार अभी कहा; दूसरा इससे भी अच्छा है। यदि शास्ता और शासित राजा और प्रजा मे, शिक्षक और शिष्य में, परस्पर स्नेह, मैत्री, विश्वास, हितैषिता, एक ओर दया दूसरी ओर आदर हो, तो इस प्रकार के संकट उत्पन्न ही न हों जिनमें संघर्ष अनिवार्य हो जाता है। प्राचीन काल में सम्राट् अशोक के समय में, अर्वाचीन काल में रानी दुर्गावती के गोंडवाना राज्य में, रानी अहल्याबाई के इंदोर राज्य में, रानी लक्ष्मीबाई के झाँसी राज्य में, ऐसा ही था। और भी राजा और रानी भारत में निश्चयेन ऐसे हुए होंगे; पर उनका इतिहास लुप्त हो गया है। पुराने हिन्दू कालेज में अध्यापकों अध्येताओं में परस्पर भाव ऐसे ही थे। ऐसों से शिक्षा पाना विद्यार्थी अपना सौभाग्य समझते थे; अब तो स्यात् कितने ही समझते होंगे कि हम फ़ीस देते हैं, अध्यापक वेतन पाते हैं, क्या हम मुफ्त में पढ़ते हैं?

सब का निष्कर्ष यह है कि हिन्दू कालेज की स्थापना का आदर्श कहिये, लक्ष्य, उद्देश्य कहिये, एक मात्र सर्वसंग्राही, यह था कि औपनिषद वेदान्त के सनातन तथ्यों पर प्रतिष्ठित सनातन धर्म, अर्थात् 'कर्मणा वर्णः' और 'वयसा आश्रमः" के अनुसार वर्णाश्रम

धर्म का प्रचार और प्रसार किया जाय, और जीर्ण-शीर्ण हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज का जीर्णोद्धार किया जाय। इसी से भारत का सब प्रकार का कल्याण होगा और स्वराज्य सच्चा बनेगा। इसी धर्म का अपनी स्मृति में प्रतिपादन करते हुये आदि धर्मात्माता, आदि प्रजापति, भगवान् मनु ने कहा,

"धर्म एव हतो हंति, धर्मो रक्षति रक्षितः, तस्माद्धर्मो न हंतयो, मा नो धर्मो हतो वधीत्।"

इसी धर्म के पुनः-पुनः संस्थापन के लिये, कृष्ण ने कहा, "संभवामि युगे युगे।" इसी के लिये कौरव पांडवों को जन्योऽन्य विनाश करने से रोकने के लिये वेदव्यास ने कहा, "धर्माद् अर्थश्च, कामश्च, म किमर्थं नं सेव्यते।" इसी के लिये रामचंद्र ने कहा—

"दुःखेनऽयं निर्मितो धर्मसेतुः, यत्नेनैवं रक्षणीयो भवद्भिः;
नत्वा सर्वान् भाविनो भूमिपालान्, भूयो भूयो याचते रामभद्रः।"

इसी के लिये बुद्ध देव ने, जिनको सब हिन्दू विष्णु का अवतार मानते हैं, कहा— "प्रसारय धर्मध्वजं प्रपूरय धर्मशंखं, प्रताड़य धर्मदुंदुभि, धर्मं कुरु, धर्मं कुर, धर्मं कुरु।"

महायान मत

आचार्य नरेन्द्रदेव

जब महाराज अशोक बौद्ध हो गये, तब उनका प्रश्रय पाकर बौद्ध धर्म बहुत फैला। उनका विस्तृत साम्राज्य था। उन्होंने धर्म का प्रचार करने के लिए दूर-दूर उपदेशक भेजे। भारत के बाहर भी उनके भेजे उपदेशक गये थे। उन्होंने अनेक स्तूप और विहार बनवाये। अशोक के कौशाम्बी के लेख से मालूम होता है कि वहां एक भिक्षु संघ था। एक संघ का पता सारनाथ के लेख से चलता है। भाब्र लेख में अशोक कहते हैं कि सब बुद्धवचन सुभाषित हैं, किन्तु मैं कुछ वचनों की विशेष रूप से सिफारिश करता हूँ। उन्हीं के समय में 'खुतन' में भारतीयों का उपनिवेश हुआ। वहां से ही पहले-पहल बौद्धधर्म चीन गया।

अशोक के समय में बौद्धों में मूर्तिपूजा न थी। बुद्ध का प्रतीक रिक्त आसन, चक्र, कमलपुष्प, या चरणपादुका था। स्तूप में बुद्ध का धातुगर्भ रखकर पूजा करते थे। कथा है कि अशोक ने बुद्ध की अस्थियों को प्राचीन स्तूपों से निकाल कर ८४००० स्तूपों में बांट दिया। चैत्य की पूजा भी प्राचीन थी। आरम्भ में बुद्ध यद्यपि अन्य अर्हतों की अपेक्षा श्रेष्ठ समझे जाते थे यद्यपि उनका जन्म, उनके लक्षण, मार-धर्षण, जन्म के पूर्व तुषित लोक में निवास, उनकी मृत्यु, सभी अद्‌भुत थे, तथापि प्राचीन निकायों के अनुसार बुद्ध का निर्वाण अन्य अर्हतों के निर्वाण से भिन्न न था। उनका यह विश्वास न था कि परिनिर्वृत बुद्ध इस लोक में हस्तक्षेप कर सकते हैं। यद्यपि ये बुद्ध के निर्वाण को महाशून्य मानते थे, तथापि उनके लिए बुद्ध उस प्रकार के त्राता नहीं थे, जैसे ईसाइयों के लिए ईसामसीह त्राता हैं। शास्ता ने कहा है कि तुम्हीं अपने लिए दीपक हो, दूसरे का आश्रय मत लो, धर्म ही एकमात्र तुम्हारा दीप, शरण, सहाय हो। बुद्ध का कहना था कि निर्वाण का साक्षात्कार प्रत्येक को स्वयम् करना होता है। उनके लिए वे संघ के गणाचार्य थे, शास्ता थे। वे उनके लिए मैत्री और ज्ञान की मूर्ति थे। उनको बुद्ध की शरण में जाना पड़ता था। बुद्ध की अनुस्मृति एक कर्मस्थान था, किन्तु जब शास्ता का परिनिर्वाण हो गया, तो पूजा का विषय अतीन्द्रिय हो गया। अब प्रश्न यह हुआ कि पूजा से क्या फल होगा?

कर्मवाद के अनुसार बौद्ध यह नहीं मानते थे कि पूजा करने से बुद्ध वरदान देंगे, किन्तु वे यह मानते थे कि बुद्ध का ध्यान करने से चित्त समाहित और विशुद्ध होगा और पूजक अपने को निर्वाण के लिए तैयार करेगा। सिद्धांत यह है कि प्रत्येक अपने किये कर्मों का फल भोगता है। बुद्ध की शिक्षा में प्रसाद (Grace) और प्रार्थना को स्थान नहीं दिया गया है। इसके लिए कोई उचित शब्द भी नहीं है। मिलता-जुलता एक शब्द प्रणिधि, प्रणिधान है, किन्तु उसका अर्थ 'प्रतिज्ञा' है। कभी कभी यह पुण्य विपरिणामना है (सत्य वचन)। किन्तु ईसवी सदी के कुछ पहले से बौद्धों में करुणामय देवों की पूजा

प्रारम्भ हुई, जिनकी प्रतिमा या प्रतीक की वे पूजा करने लगे और जिनसे सुख और मोक्ष की प्राप्ति के लिए वे प्रार्थना करने लगे। ये देव शाक्यमुनि, पूर्वबुद्ध, अनागत बुद्ध मैत्रेय बोधिसत्व हैं। भक्ति का प्रभाव बढ़ने लगा। निर्वाण का स्वरूप भी बदलने लगा। सुखभूमि की प्राप्ति इसका उद्देश्य होने लगा। बुद्ध लोकोत्तर हो गये। यद्यपि पालिनिकाय में बुद्ध को लोकोत्तर कहा है, किन्तु वहां इसका अर्थ केवल इतना है कि बुद्ध पद्मपत्र की तरह लोक से ऊपर हैं। उनका विशेषत्व केवल यही है कि उन्होंने निर्वाण के मार्ग का आविष्कार किया है। बुद्ध को लक्षण और अनुव्यंजनों से युक्त महापुरुष भी कहा है। यह भी इसी अर्थ में है। जैसे नारायण को 'महापुरुष' कहते हैं, जो एक, अद्वितीय, शाश्वत हैं, वैसे पालि आगम के बुद्ध नहीं हैं।

किन्तु कुछ बौद्ध उनको विशेष अर्थ में लोकोत्तर मानने लगे। कुछ अन्धक और उत्तरापथ मानते थे कि भगवान् के उच्चार-प्रस्राव (मल-मूत्र) का गन्ध अन्य गन्धों से विशिष्ट है। कथावत्थु, (१८) के अनुसार भगवान् ने एक शब्द भी नहीं कहा है; आनन्द ने ही उपदेश दिया है। इस मत के बौद्ध लोकोत्तरवादी कहलाते थे। उनके अनुसार निर्वाण का अर्थ बुद्ध-अवस्था का शाश्वतत्व है। गान्धार रीति की जो बुद्ध की मूर्तियां हैं उनमें शाक्यमुनि, पूर्वबुद्ध तथा अन्य बुद्धों को ध्यान की अवस्था में दिखाया है। चरम भविक (अन्तिम जन्म वाला) बोधिसत्व तुषित लोक से बुद्ध होने के लिए अवतीर्ण होता है। वह लोकोत्तर पुरुष है। उसका जन्म अद्भुत है और वह लक्षणों से संयुक्त है। स्थविरों का कहना है कि बोधि के अनन्तर वह लोकोत्तर होते हैं, किन्तु वह लोकानुवर्तन करते हैं। अनेक कल्प हुए कि हमारे शाक्यमुनि ने पूर्वबुद्ध के सम्मुख यह प्रणिधान किया कि मैं बुद्ध हूँगा। उन्होंने अनेक जन्मों मे १० पारमिताओं (पराकाष्ठा को प्राप्त गुण) की साधना की। उन्होंने अन्तिम जन्म में कुमारी माया के गर्भ में मनोमय शरीर धारण किया। उनकी पत्नी भी कुमारी थीं, क्योंकि अन्तिम जन्म में बुद्ध कामराग में अभिनिविष्ट नहीं होते। भूतदया से प्रेरित हो वे मानव जन्म ले लोगों को उपदेश देते हैं। 'वेतुल्लक' कहते हैं कि शाक्यमुनि ने मनुष्य लोक में कभी अवस्थान नहीं किया; वे वास्तव में तुषित लोक में रहते हैं। मनुष्यों और देवताओं ने केवल उनकी छाया देखी है। सद्धर्म पुण्डरीक में (प्रथम शताब्दी) यह वाद सुपल्लवित हुआ है। इस ग्रन्थ में शाक्यमुनि का माहात्म्य वर्णित है। उनका यथार्थ काय संभोगकाय है। ये धर्म-देशना के लिए समय-समय पर लोक में प्रादुर्भूत होते हैं। यह उनका निर्माणकाय है। इसी की स्तूप-पूजा होती है। पांचवीं-छठी शताब्दी में कुछ बौद्ध आदिबुद्ध (आदि कल्पिक बुद्ध) भी मानने लगे, जिनसे अन्य बुद्धों का प्रादुर्भाव हो सकता था। किन्तु यह विचार तीर्थक (Heretic) विचार माना जाता था।

सूत्रालंकार (९।७७) में इसका प्रतिषेध यह कह कर है कि कोई पुरुष आदि से बुद्ध नहीं होता, क्योंकि बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए पुण्य और ज्ञानसंभार की आवश्यकता है। धीरे-धीरे बुद्धों की संख्या बढ़ने लगी। पूर्व विश्वास के अनुसार एक काल में एक साथ दो बुद्ध नहीं होते। महायान में एक काल में अनेक बुद्ध हो सकते हैं, किन्तु एक लोक में

अनेक नहीं हो सकते। पहले ७ मानुषी बुद्धों का उल्लेख मिलता है; धीरे-धीरे यह संख्या २४ हो जाती है। इनके अलग-अलग बुद्ध-क्षेत्र हैं, जहां इनका अधिपत्य है। इसी प्रकार का एक बुद्ध-क्षेत्र सुखावती व्यूह है, जहां अमिताभ या (अमितायु) बुद्ध शासन करते हैं। यहां दुःख का लवलेश नहीं है; यह विशुद्धिसत्व से निर्मित है। यहां अमिताभ के भक्त मरणानन्तर निवास करते हैं। सुखावती व्यूह में नामजप, नामघोष, नामसंकीर्तन का बड़ा महात्म्य है। जो सुशील पुरुष सच्चे हृदय से अमिताभ का नाम एक बार भी लेते हैं, वे सुखावती में जन्म लेते हैं। इस निकाय का प्रचार जापान में विशेष रूप से हुआ। यहां के एक मन्दिर में ही यह ग्रन्थ मिला था।

इस प्रकार धीरे-धीरे बुद्धवाद विकसित हुआ। यह बौद्ध शासन में एक नूतन परिवर्तन है। यह लोकोत्तरवाद महासांघिकों में उत्पन्न हुआ। हम महासांघिकों का स्थविरों से पृथक् होना बता चुके हैं। विकसित होते-होते इस निकाय से महायान की उत्पत्ति हुई। बौद्ध संघ दो प्रधान यानों (मार्ग) में विभक्त हो गया—हीनयान और महायान।

हमने देखा कि किस प्रकार महायान में बुद्ध को एक विशेष अर्थ में लोकोत्तर बना दिया। इससे बुद्ध-भक्ति बढ़ने लगी। जब यनानियों ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया, तब बुद्ध की मूर्तियां बनने लगीं। भक्ति के कारण मूर्तिकला में भी उन्नति हुई। प्रसिद्ध रूपकारों ने प्रस्तर में भगवान के कुशल समाहित चित्त, उनकी मैत्री भावना और करुणा, उनके पुण्य और ज्ञान के संभार का उद्ग्रहण करने की सफल चेष्टा की। यह व्यक्त ह कि मूर्तिकला पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। गुप्तकाल इसका समृद्धिकाल है।

महायान की साधना

महायान में उपदेशकों का अदम्य उत्साह और जीवों की अर्थचर्या की अमिट अभिलाषा थी। उनका आदर्श अर्हत् के समान व्यक्तिगत निःश्रेयस् के लाभ का न था। पूर्णावदान में इस नये प्रकार के भिक्षु का चित्र हमको मिलता है। यह कथा पालिनिकाय में भी है (संयुत्त ४।०; मज्झिम ३।२६७)। किन्तु दिव्यावदान में इसका विकसित रूप मिलता है। दिव्यावदान के अनुसार पूर्ण जन्म से ही रूपवान्, गौर, सुवर्णवर्ण का था और वह महापुरुष के कुछ लक्षणों से समन्वागत था। शाक्यमुनि ने उनकी उपसंपदा (भिक्षुभाव) की थी। उन्होने बुद्ध से संक्षिप्त अववाद की देशना (उपदेश) चाही। भगवत् ने देशना के अनन्तर पूछा कि तुम किस जनपद में विहार करोगे? पूर्ण ने कहा, श्रोणापरान्तक में। बुद्ध ने कहा, किन्तु वहां के लोग चण्ड हैं, परुषवाची हैं। यदि वह आक्रोश करें, तुम्हारा अपवाद करें, तो तुम क्या सोचोगे? पूर्ण ने कहा कि मैं सोचूंगा कि वे लोग भद्रक हैं, जो मुझे हाथ से नहीं मारते, केवल परुषवचन कहते हैं। बुद्ध ने फिर कहा, यदि वह हाथ से मारें, तो क्या सोचोगे? पूर्ण ने कहा कि सोचूंगा कि वे लोग भद्रक हैं, जो मुझे हाथ से मारते हैं, दण्ड से नहीं मारते। बुद्ध ने पुनः पूछा, यदि वे दण्ड से मारें? पूर्ण ने कहा, तब मैं सोचूंगा कि वे भद्रपुरुष हैं, जो मेरे प्राण नहीं हर लेते। और यदि वे प्राण हर लें? पूर्ण ने कहा, तब मैं सोचूंगा कि वे भद्रपुरुष हैं, जो तुझे इस पूतिकाय

(दुर्गन्धपूर्ण शरीर) से अनायास ही विमुक्त करते हैं। बुद्ध ने कहा—साधु साधु ! इस उपशम से, इस क्षान्ति पारमिता से समन्वागत हो, तुम उन चण्ड पुरुषों में विहार कर सकते हो। जाओ, पूर्ण ! दूसरों को विमुक्त करो, दूसरों को पार लगाओ।

पूर्ण का आदर्श अर्हत् नहीं है। वह बोधिसत्व है अर्थात् उसका अभिप्राय बोधि की प्राप्ति है। वह कुछ लक्षणों से अन्वित है; सब लक्षणों से नहीं, जैसे बुद्ध होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि पूर्ण बोधिचर्या में कुछ उन्नति कर चुका है। उष्णीष, ऊर्ण, उसके लम्बे हाथ, सब इसके चिह्न हैं। वह क्षांति पारमिता से समन्वागत है। जब वह श्रोणापरान्तक में उपदेश का कार्य आरम्भ करता है, तब लोग उसके साथ दुष्ट व्यवहार करते हैं। एक लुब्धक, जो आखेट के लिए जा रहा था इस मुण्ड भिक्षु को देखकर, उसे अशकुन समझ, उसकी ओर दौड़ा। पूर्ण ने उससे कहा कि तुम मुझे मारो, हरिण का वध मत करो। यह नवीन प्रकार का भिक्षु है, जो धर्म के प्रचार को सबसे अधिक महत्त्व देता है। इसमें संदेह नहीं कि हीनयान के भिक्षुओं में भी इस प्रकार का उत्साह था, जैसे आनन्द में। किन्तु इस नये भिक्षु की साधना अष्टांगिक मार्ग की नहीं है, किन्तु पारमिता की है। यह क्षांति पारमिता में परिपूर्ण है। यह बुद्ध होना चाहता है, अर्हत् नहीं। जातक की निदान कथा से मालूम होता है कि शाक्यमुनि ने ५४७ जन्म में पारमिताओं की साधना की थी। बुद्ध होने के पूर्व वे बोधिसत्व थे। इस चर्या से उन्होंने पुण्य और ज्ञान-संभार प्राप्त किया था। वेस्सन्तर जातक में बोधिसत्व ने अपने शरीर का मांस भी दान में दे दिया था। वे सबके साथ मैत्री-भाव रखते थे। वे कहते हैं—जैसे माता अपने एक मात्र पुत्र की रक्षा प्राण देकर भी करती है, उसी प्रकार सब जीवों के साथ अप्रमेय (प्रमाण-रहित) मैत्री होनी चाहिए। इस नई विचार-प्रणाली के अनुसार भिक्षु इस मैत्री-भावना के विना नहीं हो सकता। इस दृष्टि में बुद्ध का पूर्ण वैराग्य ही पर्याप्त नहीं है किन्तु बुद्ध की सक्रिय मैत्री भी चाहिए। यह महायान का आदर्श है। बौधिसत्व संसार के जीवों के निस्तार के लिए निर्वाण में प्रवेश को भी स्थगित कर देता है। वह सब जीवों को दुःख से विमुक्त करना चाहता है। वह कहता है कि सबका दुःख-सुख बराबर है, मुझे सबका पालन आत्मवत् करना चाहिए। जब सबको समान रूप से दुःख और भय अप्रिय हैं, तब मुझ में क्या विशेषता है जो मैं अपनी ही रक्षा करूं, दूसरों की न करूं। उसके अर्हत्त्व से क्या लाभ, जो अपने ही लिए अर्हत् है ? क्या वह राग-विनिर्मुक्त है, जो अपने ही दुःखविमोचन का ख्याल करता है, जो केवल अपने ही निर्वाण का विचार करता है ? जो स्वार्थी है, जो सर्व क्लेश-विनिर्मुक्त है, जो द्वेष और करुणा दोनों से विनिर्मुक्त है; ऐसा अर्हत् क्या निर्वाण के मार्ग का पथिक होगा ? हीनयानी व्यर्थ कहते हैं कि उनका अर्हत् जीवन्मुक्त है। सच्चा अर्हत् बोधिसत्व है। इनके अनुसार हीनयानियों का मोक्ष अरसिक है (बोधिचर्यावतार, ८।१०८)। अर्हत् के निर्वाण और बुद्ध के निर्वाण में भी भेद हो गया। स्तोत्रकार मातृचेट कहते हैं कि जिस प्रकार नील आकाश और रोमकूप के विवर (छिद्र) दोनों आकाश धातु हैं, किन्तु दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है, उसी प्रकार का अन्तर भगवत् के निर्वाण और दूसरों के निर्वाण में है।

बुद्ध के पूर्व जन्म

शाक्यमुनि सर्वज्ञ थे। वे परम कारुणिक थे। जीवों के उद्धार के लिये उन्होंने उस सत्य का उद्घाटन किया और उस मार्ग का आविष्कार किया जिस पर चलकर लोग संसार से विमुक्त होते हैं। उन्होंने सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति केवल अपने लिये नहीं की किंतु अनेक जीवों के क्लेश-बंधन को नष्ट करने के लिये की। इसके विपरीत अर्हत् केवल अपने निर्वाण के लिये यत्नवान् होता था। अर्हत् का आदर्श बुद्ध के आदर्श की अपेक्षा तुच्छ था। इस विशेषता का कारण यह है कि बुद्ध ने पूर्व-जन्मों में पुण्य राशि का संचय किया था और अनंत ज्ञान प्राप्त किया था। भगवान् बुद्ध का जीवनचरित अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वह पूर्व-जन्मों मे 'बोधिसत्व' थे। पालि निकाय में जातक नाम का एक ग्रंथ है। यह भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाओं का संग्रह है। जातक की निदानकथा में वर्णित है कि अनेक कल्प व्यतीत हो गये कि शाक्यमुनि अमरवती नगरी में एक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। उनका नाम सुमेध था। बाल्य-काल में ही उनके माता-पिता का देहांत हो गया था। सुमेध को वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसने तापस प्रव्रज्या की। एक दिन उसने विचार किया कि पुनर्भव दुःख है; मैं उस मार्ग का अन्वेषण करता हूँ जिस पर चलने से भव से मुक्ति मिलती है; ऐसा मार्ग अवश्य है; जिस प्रकार लोक में दुःख का प्रतिपक्ष सुख है, उसी प्रकार भव का भी प्रतिपक्ष विभव होना चाहिये, और जिस प्रकार उष्ण का उपशम शीत है, उसी प्रकार रागादि दोष का उपशम निर्वाण है। ऐसा विचार कर सुमेध तापस हिमालय में पर्णकुटी बनाकर रहने लगे। उस समय लोकनायक दीपंकर बुद्ध संसार में धर्मोपदेश करते थे। एक दिन सुमेध तापस आश्रम से निकल कर आकाश मार्ग से जा रहे थे। देखा कि लोग नगर को अलंकृत कर रहे हैं, भूमि को समतल कर रहे हैं, उस पर वालुका आकीर्ण कर लाज और पुष्पविकीर्ण कर रहे हैं, नाना रंग के वस्त्रों की ध्वजा-पताका का उत्सर्ग कर रहे हैं, और कदली तथा पूर्ण घट की पंक्ति प्रतिष्ठित कर रहे हैं। यह देखकर सुमेध आकाश से उतरे और लोगों से पूछा कि किस लिये मार्ग-शोधन हो रहा है। सुमेध को प्रीति उत्पन्न हुई और 'बुद्ध' 'बुद्ध' कहकर वे बड़े प्रसन्न हुए। सुमेध भी मार्ग-शोधन करने लगे। इतने में दीपंकर बुद्ध आगये। भेरी बजने लगी। मनुष्य और देवता साधु साधु कहने लगे। आकाश से मंदार पुष्पों की वर्षा होने लगी। सुमेध अपनी जटा खोलकर, वल्कल, चीर और चर्म बिछाकर, भूमि पर लेट गये और यह विचार किया कि यदि दीपंकर मेरे शरीर को अपने चरण कमल से स्पर्श करें तो मेरा हित हो। लेटे लेटे उन्होंने दीपंकर की बुद्ध-श्री को देखा और चिंता करने लगे कि सर्व क्लेश का नाश कर निर्वाण-प्राप्ति से मेरा उपकार न होगा। मुझको यह अच्छा मालूम होता है कि मैं भी दीपंकर की तरह परम संबोधि प्राप्त कर अनेक जीवों को धर्म की नौका पर चढ़ाकर संसार सागर के पार ले जाऊं और पश्चात् स्वयं परिनिर्वाण में प्रवेश करूँ। यह विचार कर उन्होंने 'बुद्ध-भाव' के लिये उत्कट अभिलाषा (पालि—अभिनीहार) प्रकट की।

दीपंकर के समीप सुमेध ने बुद्धत्व की प्रार्थना की और ऐसा दृढ़ विचार किया कि

बुद्धों के लिये में अपना जीवन भी परित्याग करने को उद्यत हूँ। इस प्रकार सुमेध 'अधिकार-संपन्न' हुए।

दीपंकर पास आकर बोले—इस जटिल तापस को देखो। यह एक दिन बुद्ध होगा। यह बुद्ध का 'व्याकरण' हुआ। यह एक दिन बुद्ध होगा, इस वचन को सुनकर देवता और मनुष्य प्रसन्न हुए और बोले—यह 'बुद्ध बीज' है, यह 'बुद्धांकुर' है। वहाँ पर जो 'जिन-पुत्र' (बुद्ध-पुत्र) थे, उन्होंने सुमेध की प्रदक्षिणा की। लोगों ने कहा—तुम निश्चय ही बुद्ध होगे। दृढ़ पराक्रम करो, आगे बढ़ो, पीछे न हटो। सुमेध ने सोचा कि बुद्ध का वचन अमोघ होगा।

बुद्धत्व की अकांक्षा की सफलता के लिये सुमेध बुद्धकारक धर्मों का अन्वेषण करने लगे और महान् उत्साह प्रदर्शित किया। अन्वेषण करने से १० 'पारमिता' प्रकट हुईं। इनका आसेवन पूर्व काल में बोधिसत्वों ने किया था। इन्हीं के ग्रहण से बुद्धत्व की प्राप्ति होगी। 'पारमिता' का अर्थ है 'पूर्णता'; पालि रूप 'पारमी' है। दस पारमिता ये हैं—दान, शील, नैष्क्रम्य, प्रज्ञा, वीर्य, क्षांति, सत्य, अधिष्ठान (=दृढ़ निश्चय), मैत्री (=अहित और हित में सम भाव रखना) तथा उपेक्षा (=सुख और दुःख में समान रूप रहना)। सुमेध ने बुद्ध गुणों का ग्रहण कर दीपंकर को नमस्कार किया। सुमेध की चर्या अर्थात् साधना प्रारम्भ हुई और ५५० विविध जन्मों के पश्चात् वह तुषित लोक में उत्पन्न हुए; और वहाँ बोधि प्राप्ति के सहस्र वर्ष पूर्व बुद्ध-हलाहल शब्द इस अभिप्राय से हुआ कि सुमेध की सफलता निश्चित है। तुषित लोक से च्युत होकर माया देवी के गर्भ में उनकी अवक्रांति हुई और मनुष्य भाव धारण कर उन्होंने सम्यक् संबोधि प्राप्ति की।

सुमेध-कथा से स्पष्ट है कि सुमेध ने सम्यक् संबोधि के आगे अर्हत् के आदर्श, निर्वाण को तुच्छ समझा और बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये दस पारमिता का ग्रहण किया। शाक्य मुनि ने ५५० विविध जन्म लेकर पारमिताओं द्वारा सम्यक् संबुद्ध की लोकोत्तर संपत्ति प्राप्त की। शाक्यमुनि का पुण्यसंभार और ज्ञान अर्हत् के पुण्यसंभार और ज्ञान से कहीं बढ़कर है। बुद्ध अन्य अर्हतों से भिन्न हैं, क्योंकि उन्होंने निर्वाण मार्ग का आविष्कार किया है। अर्हत् ने बुद्ध के मुख से दुःख निरोध का उपाय श्रवण किया और उनके बताये हुए मार्ग का अनुसरण कर अर्हत् अवस्था प्राप्त की। बुद्ध का ज्ञान अनंत है और उनकी चर्या, साधना परार्थ है।

महायान धर्म का लक्ष्य—बुद्धत्व की प्राप्ति

महायान धर्म सर्व भूतदया पर आश्रित है। 'आर्य गयाशीर्ष' में कहा है—किमारंभा मंजुश्री बोधिसत्वानां चर्या। किमधिष्ठानां। मंजुश्रीराह महा करुणारंभा देवपुत्र बोधि-सत्वानां चर्या सत्वाधिष्ठानेति विस्तरः। (बोधिचर्यावतारपंकिजा पृ० ४८७)। अर्थात्, हे मंजुश्री, बोधिसत्वों की चर्या का आरंभ क्या है और उसका अधिष्ठान अर्थात् आलंबन क्या है? मंजुश्री बोले—हे देवपुत्र! बोधिसत्वों की चर्या महाकरुणा-पुरःसर होती है, अतः महाकरुणा ही उसका आरंभ है। इस करुणा के जीव ही पात्र हैं। दुःखित जीवों का अवलंबन करके ही करुणा की प्रवृत्ति होती है।

आर्य धर्म संगीति में कहा है—न भगवन् बोधिसत्वेनातिबहुषु धमषु शिक्षितव्यम्। एक एव हि धर्मो बोधिसत्वेन स्वाराधितकर्तव्यः सुप्रतिविद्धः। तस्य करतलगताः सर्वे बुद्धधर्मा भवंति। भगवन् येन बोधिसत्वस्य महाकरुणा गच्छति तेन सर्वबुद्धधर्मा गच्छंति। तद्यथा भगवन् जीवितेंद्रिये सत्वं येषामिंद्रियाणां प्रवृत्तिर्भवति एवमेव भगवन् महाकरुणायां सत्यां बोधिकारकाणां धर्माणां प्रवृत्तिर्भवति (बोधि० पृ० ४८६-४८७)। अर्थात्, हे भगवन्, बोधिसत्व के लिये बहुधर्म की शिक्षा का ग्रहण अनावश्यक है। बोधिसत्व को एक ही धर्म स्वायत्त करना चाहिये। उसके हस्तगत होने से सब बुद्ध-धर्म हस्तगत होते हैं। जिस ओर महाकरुणा की प्रवृत्ति होती है, उसी ओर सब बुद्ध-धर्मों की प्रवृत्ति होती है। जिस प्रकार जीवितेंद्रिय के रहते अन्य इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार महाकरुणा के रहने से बोधकारक अथवा बोधिपाक्षिक धर्मों की प्रवृत्ति होती है।

महायान धर्म में महाकरुणा को सम्यक् संबोधि का साधन माना है। भगवान् बुद्ध के चरित से भी महाकरुणा की उपयोगिता प्रकट होती है। 'महावग्ग' में वर्णित है कि जब भगवान् को बोधि वृक्ष के तले संबोधि (सम्यक् ज्ञान) प्राप्त हुई, तब धर्म-देशना (उपदेश) में उनकी प्रवृत्ति न थी। उन्होंने सोचा कि लोग अन्धकार से आच्छन्न हैं और राग दोष से संयुक्त हैं, अतः धर्म का प्रकाश नहीं देख सकते। यदि मैं इन्हें धर्मोपदेश भी करूँ तब भी इनको सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति न होगी। बुद्ध का यह भाव जानकर ब्रह्मास-हंपति को चिंता हुई कि यदि बुद्ध धर्मोपदेश न करेंगे तो संसार नष्ट हो जायगा। आर्तजन को दुःखार्णव के उस पार कौन ले जायगा और धर्मनदी का प्रवर्तन कर कौन जीवलोक की तृष्णा का उपशम करेगा? यह विचार कर ब्रह्मा बुद्ध के सम्मुख प्रादुर्भूत हुए और भगवान् से प्रार्थना की कि भगवान् धर्म का उपदेश करें; नहीं तो जो लोग दोषपूर्ण हैं, वे धर्म का परित्याग कर देंगे। भगवान् ने कहा कि मैंने गंभीर और दुरनुबोध धर्म पाया है, पर धर्म-देशना में मेरा चित्त नहीं लगता। ब्रह्मा के विशेष प्रार्थना करने पर जीवों पर करुणा कर भगवान् ने बुद्धचक्षु से लोक को देखा और जाना कि जीव दुःखार्दित हैं। अतः ब्रह्मासहंपति की प्रार्थना भगवान् न स्वीकार की और सर्वभूत-दया से प्रेरित होकर सत्वों के कल्याण के लिये धर्मोपदेश किया।

जहाँ 'हीनयान' का अनुगामी केवल अपने दुःख का अत्यंत निरोध चाहता है, वहाँ 'महायान' धर्म का साधक बुद्ध के समान अपने ही नहीं किन्तु सत्वसमूह के जन्म-मरणादि दुःखों का अपनयन चाहता है। बोधिचर्या (बुद्धत्व की प्राप्ति की साधना यह पारमिता की साधना है) का ग्रहण केवल इसी अभिप्राय से है कि जिसमें साधक सब जीवों का समुद्धरण करने में समर्थ हो। महायान का अनुगामी निर्वाण का अधिकारी होते हुए भी भूतदया से प्रेरित हो संसार का उपकार करने के लिये अपने इस अपूर्व अधिकार का भी परित्याग करता है। इसी कारण महायान ग्रंथों में सप्तविध अनुत्तर पूजा का एक अंग 'बुद्धयाचना' कहा है जिसमें निर्वाण की इच्छा रखने वाले कृतकृत्य जनों से प्रार्थना की जाती है कि वे अनन्त कल्प तक निवास करें जिसमें यह लोक अन्धकार से अच्छन्न न हो।

हीनयान तथा महायान की परस्पर तुलना करते हुए अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता के एकादश परिवर्त में कहा है कि हीनयान के अनुयायी का विचार होता है कि मैं एक

आत्मा का दमन करूँ, एक आत्मा को शम की उपलब्धि कराऊँ और एक आत्मा को निर्वाण प्राप्त कराऊँ। उसकी सारी चेष्टाएँ इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये होती हैं। पर बोधिसत्व की शिक्षा अन्य प्रकार की है। उसका अभिप्राय उदार और उत्कृष्ट है। वह अपने को परमार्थ सत्य में स्थापित करना चाहता है, पर साथ ही साथ सब सत्वों की भी परमार्थ सत्य में प्रतिष्ठा चाहता है। वह अप्रमेय सत्वों को परिनिर्माण की प्राप्ति करने के लिये उद्योग करता है। इसलिय बोधिसत्व को हीनयान की शिक्षा ग्रहण न करनी चाहिये। सर्व ज्ञान के मूल स्वरूप प्रज्ञापारमिता को छोड़ कर जो शाखा-पत्र स्वरूप हीनयान में सार-बुद्धि देखते हैं, वह भूल करते हैं।

एक महायान ग्रंथ का कहना है कि महाकरुणा ही मोक्ष का उपाय है। हीनयानवादी इस मोक्षोपाय को नहीं रखता। उसकी प्रज्ञा असमर्थ है, क्योंकि वह पाप-शोधन का उपाय नहीं रखता।

महायान ग्रंथों के अनुसार जो बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये यत्नवान् है अर्थात् जो बोधिसत्व है, उसे षट्पारमिता का ग्रहण करना चाहिये। दान, शीलादि गुणों में जिसने पूर्णता प्राप्त की है, उसके लिये कहा जाता है कि इसने दान, शीलादि पारमिता हस्तगत कर ली हैं। यही बोधिसत्व शिक्षा है और इसी को बोधिचर्या कहते हैं। षट्पारमिता निम्नलिखित हैं—दान, शील, क्षांति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा। षट्पारमिता में प्रज्ञापारमिता का प्राधान्य है। प्रज्ञापारमिता यथार्थ ज्ञान को कहते हैं। इसका दूसरा नाम भूत-तथता है। प्रज्ञा के बिना पुनर्भव का अंत नहीं होता। प्रज्ञा की प्राप्ति के लिये ही अन्य पारमिताओं की शिक्षा कही गई है। प्रज्ञा द्वारा परिशोधित होने पर ही दान आदि पूर्णता को प्राप्त होते हैं और 'पारमिता' का व्यपदेश प्राप्त करते हैं। बुद्धत्व की प्राप्ति में इस पुण्यसंभार की परिणामना होने के कारण ही इनकी पारमिता सार्थक होती है। यह पंच पारमिता प्रज्ञारहित होने पर लौकिक कहलाती है। उदाहरण के लिये जब तक दाता भिक्षु, दान और अपने अस्तित्व में विश्वास रखता है, तब तक उसकी दान पारमिता लौकिक होती है; पर जब वह इन तीनों के शून्य भाव को मानता है, तब उसकी पारमिता लोकोत्तर कहलाती है। जब पंच पारमिता प्रज्ञापारमिता से समन्वागत होती है, तभी वह सचक्षुष्क होती है और उसको लोकोत्तर संज्ञा प्राप्त होती है। प्रज्ञा की प्रधानता होते हुए भी अन्य पारमिताओं का ग्रहण नितांत आवश्यक है। संबोधि की प्राप्ति में दान प्रथम कारण है, शील दूसरा कारण है।

दान, शील की अनुपालना क्षांति द्वारा होतीं है। दानादि त्रितय पुण्य संभार, वीर्य अर्थात् कुशलोत्साह के बिना नहीं हो सकता। और बिना ध्यान अर्थात् चित्तेकाग्रता के प्रज्ञा का प्रादुर्भाव नहीं होता; क्योंकि समाहित चित्त होने से ही यथाभूत परिज्ञान होता है जिससे सब आवरणों की अत्यंत हानि होती है।

इसी बोधिचर्या का वर्णन शांतिदेव ने बोधिचर्यावतार तथा शिक्षासमुच्चय में विशेष रूप से किया है। शांतिदेव महायान धर्म के एक प्रसिद्ध शास्त्रकार हो गए हैं। ये सातवीं शताब्दी में हुए थे। इन्हीं के ग्रंथों के आधार पर महायान मत का स्पष्ट रूप समझा जा सकता है।

वाल्मीकि रामायण में रामराज्य-कल्पना

विशुद्धानन्द पाठक

प्रत्येक काल और देश में जनसाधारण के उत्कर्ष अथवा अपकर्ष में शासन का स्वरूप और उसके उद्देश्य बहुत बड़ी मात्रा में उत्तरदायी होते हैं। यही कारण है जिससे प्रेरित होकर प्राय: प्रत्येक युग में विवेकशील पुरुषों ने कभी भी भौतिक सुखों की चर्चा अथवा चिन्ता करते समय राजनीति के उपर्युक्त अंग की उपेक्षा नहीं की। और आजकल तो कहीं कहीं आध्यात्मिक और मानसिक सुखों की भी चिन्ता करते समय उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। आज बीसवीं शती के उत्तरार्ध में तो यह प्रश्न इतना व्यापक हो गया है कि इसके विशाल उदर में अन्य सभी सामाजिक और आर्थिक समस्यायें मानों समा ही गई हैं तथा उनका अलग कोई अस्तित्व नहीं रह गया है। परन्तु यहां वादों के विवाद में न पड़कर हम यदि प्राचीन भारतीय इतिहास के कुछ पन्नों को उलटें तो अवश्य ऐसी प्रेरणायें प्राप्त होंगी जो हमें आगे ले जाने में सहायक हों। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि जो पीछे बीत गया, वह आगे लाकर बैठाया नही जा सकता। चलने वाले को तो आगे चलना है परन्तु जितना पीछे वह चल चुका है क्या आगे जाने में उसको वहां से कुछ सम्बल नहीं मिलेगा ? यह भी सोचने की बात है। सच तो यह है कि इतिहास ही वह दर्पण है जिसमें भला और बुरा दोनों स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि कुछ विचार अथवा आदर्श ऐसे हो सकते हैं जो अत्यन्त प्राचीन काल में तो भले अथवा ऊँचे रहे हों परन्तु आज के प्रगतिवादी नवीन युग में वैसे नहीं हों, अथवा उन दिनों अग्राह्य माने जाते हों पर अब वे ग्राह्य समझे जांय। पर यह भी तो हो सकता है कि कुछ बातें ऐसी हों जो उस समय भी ग्राह्य हों और आज भी उनका ग्रहण आवश्यक हो। इस दृष्टि से वाल्मीकि रामायण की जो रामराज्य की कल्पना है, उसका कुछ विवेचन करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

रामराज्य का सर्वप्रथम वर्णन वाल्मीकि रामायण में प्राप्त होता है। इस महाकाव्य की साहित्यिक महता तो है ही, उसका एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक मूल्य भी है। ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि आजकल रामायण के जितने भी संस्करण प्राप्त हैं उन सभी में वर्णित सब कुछ इतिहास की कसौटी पर सही उतरता है। परन्तु जो गलत है अथवा कवि की कोरी कल्पना है, उसे आसानी से अलग किया जा सकता है और जो सत्य तथा ऐतिहासिक तथ्य है, वह स्पष्ट दिखाई दे सकता है। प्राय: अधिकांश विद्वानों का मत है कि वाल्मीकि रामायण, जैसा आज उपलब्ध है, वह सम्पूर्ण रूप में बाल्मीकि की रचना नहीं है।[१]

---

१. 'ए हिस्ट्री आंफ इंडियन लिटरेचर' : अंग्रेजी में : विन्टरनिट्ज़ कृत, १९२७ पृष्ट ४९३ तथा ४९५; चि. वि. वैद्यकृत 'दि रिडिल ऑफ दि रामायण' : अंग्रेजी में : बम्बई १९०६, अध्याय ३, पृष्ट ३१ के बाद।

बालकांड तथा उत्तरकांड के अलावे बीच के कांडों में भी ऐसे अनेक स्थल प्राप्त होते हैं जो स्पष्टरूप से प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं । यह संभव है कि वे पीछे से जोड़ दिये गये हों ।[1] परन्तु उनके संबन्ध में भी यह ध्यान देने की बात है कि उनमें वर्णित अधिकांश भागों का भारतीय परम्परा में बहुत बड़ा स्थान है और ऐसा प्रतीत होता है कि सही ऐतिहासिक घटनायें ही उनका आधार हैं । बुद्धपूर्व भारतीय इतिहास में तो परम्परा का बहुत बड़ा महत्व है और यह स्वीकृत नहीं किया जा सकता कि उनमें वर्णित सब कुछ झूठा है । इस दृष्टि से देखने पर यह सही जान पड़ता है कि वाल्मीकि रामायण में जो रामराज्य का वर्णन किया गया है, उसका ऐतिहासिक आधार है ।

रामायण के अतिरिक्त प्रस्तुत विषय का वर्णन कालिदास के रघुवंश से, पुराणों में विशेषतः पद्मपुराण से, आध्यात्म रामायण से, भवभूति के उत्तररामचरित से और अनेक संस्कृत के छोटे नाटकों तथा नाटिकाओं से प्राप्त होता है । उनका भी महत्व है और रामायण से प्राप्त रामराज्य सम्बन्धी ज्ञान की पुष्टि में भरपूर सहायता मिलती है ।

रामराज्य राजा रामचन्द्र के द्वारा शासनसूत्र ग्रहण करने के बाद किसी सिद्धान्त विशेष के द्वारा किसी भी एक दिन प्रारम्भ कर दिया गया हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता । इसका प्रारम्भ तो राजा मनु ने किया था । ये मनु वही थे जिनको पुराणों[2] ने समस्त भारतीय सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजाओं का आदि पूर्वज माना है । मनु के पुत्र इक्ष्वाकु से अयोध्या का जो सूर्यवंशी राज्य चला उसी में उनसे ६१ पीढ़ी बाद राम ने शासन किया ।[3] इन दोनों के बीच ऐसे अनेक शासक हुये जिन्होंने बहुत विस्तृत भारतीय भूभाग पर केवल अपनी विजय पताका ही नहीं फहराई अपितु उनको संभालने के लिये एक सुव्यवस्थित शासन की भी स्थापना की । उनमें मान्धाता, हरिश्चन्द्र, सगर, रघु और दशरथ आदि तो ऐसे प्रतापी और प्रसिद्ध हुये कि उन्हें देश की परम्परा में अक्षुण्ण स्थान प्राप्त हो गया । राम के शासन की चर्चा करते समय, उपर्युक्त राजाओं ने जो कुछ किया, उसे अलग नहीं किया जा सकता । हां इतना अवश्य है कि सर्वसाधारण जनता ने आदर्श शासक के रूप में राम को जितना ग्रहण किया उतना और किसी को नहीं । यहां तक हुआ कि धीरे धीरे उच्च आदर्शों से प्रेरित और शासितों की हर प्रकार से सेवा करने वाला कोई भी शासन रामराज्य कहा जाने लगा । आज रामराज्य हर प्रकार से उच्च और श्लाघ्य व्यवस्था का पर्यायवाची शब्दपद हो गया है जिसकी स्थापना का स्वप्न भारतीय राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जीवन भर देखते रहे । ऐसा अपने आप हो गया हो यह सम्भव नहीं दीखता । यह सत्य है कि राम जो पहले साधारण पुरुष तथा एक प्रजा सेवक राजा

---

१. चि. वि. वैद्यकृत 'दि रिडिल ऑफ़ दि रामायण' : अंग्रेजी में : बम्बई १९०६, पृष्ठ ३२ ।

२. ब्रह्मांड भाग ३, ६३, ८–२१४ । वायु ८८, ८–२१३ । मत्स्य १२, २५-५७ । पद्म, भाग ५, ८, १३०–१६२ । विष्णु, भाग ४, अध्याय २, ३ और ४ । अग्नि, अध्याय २७२, आदि ।

३. वही

माने जाते थे पीछे अवतार माने जाने लगे और भारतीय धार्मिक विश्वासों में उनकी पूजा ने भी बहुत बड़ा स्थान बना लिया। परन्तु केवल इसी कारण उनका राज्य आदर्श मान लिया गया हो, यह नहीं स्वीकृत किया जा सकता। उनकी महानता को जो मान्यता प्राप्त हुई, उसके अनेक कारण थे। उनमें सम्भवतः सबसे बड़ा उनका वह रूप था जिसे शासक अथवा राजा की हैसियत से भारतीय समाज ने देखा। वह रूप उन्होंने अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार तथा आनुवंशिक क्रम से तो प्राप्त किया ही था, उसका स्वयं भी विकास किया। ऐसे अनेक आदर्श तथा भावनायें थीं जो उन्होंने पारिवारिक विशेषता के रूप में पाया था परन्तु उनकी अपनी देन भी कुछ कम नहीं थी। शासन का जो स्वरूप पहले से चला आता था उस पर उन्होंने अपनी अमिट छाप चढ़ा दी। यह छाप किसी सिद्धान्त विशेष के द्वारा नहीं चढ़ी अपितु कुछ ऐसे व्यक्तिगत उदाहरणों और कार्यों से सम्पन्न हुई जिनका तत्कालीन समाज के ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा। मेरा तो यह मत है कि जो इक्ष्वाकु राज्य धीरे धीरे रामराज्य के नाम से प्रसिद्ध हो गया, उसका सबसे बड़ा कारण राम के द्वारा उपस्थित किया गया व्यक्तिगत उदाहरण ही था, जिससे अनेक सदियों तक भारतीय राजाओं को प्रेरणा प्राप्त होती रही।

राज्य की उत्पत्ति

वाल्मीकि रामायण के देवनागरी संस्करणों[1] में ऐसा कोई वर्णन नहीं प्राप्त होता जिससे यह ज्ञात हो सके कि प्रारम्भ में राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई। परन्तु दक्षिणी भारत में प्रचलित उसके कुम्भकोणम् वाले संस्करण में एक स्थल ऐसा प्राप्त होता है जहां यह वर्णन है कि लोगों ने ब्रह्मा से एक राजा के लिये प्रार्थना की।[2] इससे यह कल्पना की जा सकती है कि प्रारम्भ में राजतंत्र की ही स्थापना हुई। स्वयं वाल्मीकि राजतंत्र के अलावे और किसी दूसरे प्रकार के राज्य स्वरूप का वर्णन नहीं करते। ऐसा लगता है कि उनके समय में गणतन्त्रीय शासन पद्धति का अभाव था और भारतवर्ष में किसी भी गणराज्य का ज्ञान उन्हें नहीं था। प्रारम्भ में राज्यसंस्था की उत्पत्ति के कारण क्या थे इसका भी कोई उत्तर रामायण से नहीं मिलता। परन्तु एक स्थल ऐसा अवश्य है जिसमें 'अराजक जनपद' का वर्णन है और यह बताया गया है कि यदि किसी जनपद में राजा न रहे तो कौन कौन सी दुर्व्यवस्थायें उत्पन्न होती हैं।[3] 'अराजक जनपद' का वर्णन करते हुये वाल्मीकि ने कहा है "बिना राजा के राज्य में पुत्र पिता के और पत्नी पति के वश में नहीं रहती। बिना राजा के राज्य में धन नहीं रहता, स्त्री भी नहीं रहती, फिर भला सत्य कहां से रहे। बिना राजा के राज्य में लोग सभाओं में प्रवेश नहीं करते तथा लोग सुन्दर उद्यान और धर्मशाले नहीं बनवाते। ....बिना राजा के राज्य में न्यायाधीश समुचित रूप से न्याय का वितरण नहीं कर पाते और न तो कथाओं में अनुरक्ति रखने वाले लोगों को

---

१. देखिये, पंडित पुस्तकालय, काशी, का १९५१ संस्करण।

२. देखिये, मिस पी. सी. धर्मा कृत 'दि रामायण पॉलिटी' (अंग्रेजी में) १९४१, मद्रास, पृष्ठ १२।

३. वा० रा० अयोध्याकांड, सर्ग ६७।

सन्तुष्ट करने का व्यास लोगों को अवसर ही प्राप्त होता है। बिना राजा के राज्य में सुन्दर वस्त्राभूषण पहिनकर बालिकायें शाम को बाग में खेलने नहीं जातीं। बिना राजा के राज्य में तेज गति वाली सवारियों पर चढ़कर अपनी कमनियों के साथ लोग जंगलों का आनन्द लूटने नहीं जाते तथा धनवान लोग सुरक्षित नहीं रहते। बिना राजा के राज्य में कृषि, गोरक्षा आदि से जीविका चलाने वाले लोग रात में अपने किवाड़ों को खोल कर नहीं सोते। …………बिना राजा के राज्य में अकेले ही चलने वाला मुनि जहां ही सांझ होती है, वहीं रुक जाता है और भय के मारे आगे नहीं बढ़ता। बिना राजा के राज्य में लोगों का योगक्षेम नहीं चलता और बिना राजा के राज्य की सेना भी शत्रु का मुकाबला नहीं कर पाती…………जैसे जल के बिना नदी, बिना तृण का बन, और बिना ग्वाले के गायें रहती हैं, वही दशा बिना राजा वाले राज्य की होती है…………बिना राजा के राज्य में किसी का अपना कुछ नहीं है। लोग आपस में ही एक दूसरे को मछलियों की तरह खा जाते हैं।"[१]

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि राजा के अभाव में दण्ड की व्यवस्था का अन्त हो जाता है। शासन और दंड के न होने से समाज के आपसी व्यवहार विश्रृंखलित हो जाते हैं और लोग अपनी अपनी मर्यादाओं को लांघ कर अनुचित और गलत पथ का अवलम्बन करने लगते हैं। रक्षा के अभाव में समाज की उन्नति सम्बन्धी व्यापार रुक जाते हैं और लोगों को न्याय नहीं प्राप्त होता। इस प्रकार राजारहित राज्य में वाल्मीकि के कथनानुसार मात्स्य-न्याय प्रचलित हो जाता है। यहां तुलनात्मक दृष्टि से यह ध्यान रखने की बात है कि महाभारत में भी रामायण ही की तरह वर्णन प्राप्त होते हैं[२] और दोनों के अराजक वर्णन में भावों की ही समानता नहीं, कहीं कहीं तो शब्दों की भी समानता है। अस्तु, उपर्युक्त वर्णन से यह साफ हो जाता है कि राजा के शासन करते हुये दंड व्यवस्था के द्वारा जन समाज में रक्षा और न्याय की प्रतिष्ठा रहती है और वह निरन्तर बढ़ता रहता है। लक्षणा से यह प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में जब मात्स्य-न्याय का ही बोल बाला रहा होगा तो उस अनिश्चित और दुःखद अवस्था का अन्त और दंड के द्वारा रक्षा और न्याय की प्रतिष्ठा के लिये ही राजा की उत्पत्ति हुई होगी और राजा के साथ राज्य का भी निर्माण हुआ।

उपर्युक्त उद्धरण में 'अराजक' शब्द पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। टीका-कारों ने[३] उसकी व्याख्या करते हुये 'अराजक जनपद' का अर्थ राजविहीन जनपद बताया है। परन्तु यह व्याख्या केवल प्रसंगतः ही सही प्रतीत होती है। प्रसंग यह था कि राजा दशरथ के मर जाने के बाद, राम के बन चले जाने की अवस्था में तथा भरत के अपनी

१. वा० रा०, अयोध्याकांड, सर्ग ६७।
२. महाभारत, शान्तिपर्व, ६७ वां अध्याय,
३. वा. रा., पंडित पुस्तकालय, काशी का प्रकाशन, अयोध्याकांड सर्ग ६७; वा. रा. तिलक, शिरोमणि और भूषण टीकाओं से समन्वित, न्यूजप्रिंटिंग प्रेस, बम्बई से प्रकाशित।

ननिहाल केकय देश में रहते हुये, अयोध्या में राजगद्दी शून्य रहे अथवा उस पर 'राजकर्ता' लोग किसी को आसीन करें। कुछ समय के लिये अयोध्या में किसी भी राजा का अभाव रहा तथा उस अभाव की अवस्था को 'अराजक' अवस्था की संज्ञा देते हुये वाल्मीकि ने उसकी विपत्तियों का वर्णन किया है। परन्तु जो विपत्तियाँ उस अवस्था की गिनाई गई हैं, वे सभी किसी भी ऐसे जनपद में आ सकती हैं, जिनमें कोई शासन व्यवस्था न हो, चाहे वह व्यवस्था राजतंत्र पर आधारित हो, गणतंत्र में अपेक्षित हो अथवा और ही किसी तन्त्र से लगी हुई हो। ऐसी दशा में 'अराजक जनपद' का अर्थ शासन और दंडविहीन जनपद भी किया जा सकता है। इस दृष्टि से सबसे प्रारम्भिक राज्य राजतंत्रीय या गणतंत्रीय अथवा कुलतंत्रीय था, यह प्रश्न कुछ विशेष महत्व का नहीं है तथा वाल्मीकि के उपर्युक्त वर्णन में यदि हम राज्य की उत्पत्ति के कारणों को देखते हैं तो वह राज्य किसी प्रकार भी राज्य हो सकता है जो मात्स्य-न्याय का अन्त कर के दंडपूर्वक शासन, न्याय, और रक्षा की भावना को प्रतिष्ठा दे।

रामराज्य में राजा के कर्त्तव्य

रामराज्य राजतंत्रीय पद्धति वाला राज्य था और राज्य का सबसे बड़ा अधिकारी राजा ही होता था। राज्य के प्रधान होने के नाते मुख्यतः उसके तीन प्रकार के कर्त्तव्य होते थे। सैनिक दृष्टि से युद्धों और विजयों के अवसर पर राजा ही सेनाओं का नेतृत्व करता था। राज्य की कार्यकारिणी का राजा ही प्रधान होता था तथा किसी भी अवसर पर किसी विशेष कार्य के सम्बन्ध में आज्ञा निकालना, अधिकारियों को आदेश देना, राजसभा से विचार-विमर्श कर निर्णय करना तथा निर्णयों को कार्यरूप में परिणत करना भी उसी का कार्य था। न्याय के दृष्टि से राजा सर्वमुख्य विचारपति भी होता था। राजदरबार में बैठकर लोगों की फरियाद सुनना और न्याय का वितरण करना उसका एक मुख्य कर्त्तव्य था। अकाल मृत्यु को प्राप्त अपने इकलौते पुत्र के शोक से पीड़ित गरीब ब्राह्मण को विलाप करते हुये राम ने अपने राजद्वार पर सुना और उसके दुःख के कारणों पर विचार करने के लिये, उन्होंने मंत्रियों, ब्राह्मणों, नैगमों तथा ऋषियों की सभा अपने राजदरबार में बुलाई।[१] इस एक ही घटना से राजा के कर्तव्यों पर पूरा प्रकाश पड़ता है। और उसके कार्यकारिणी तथा न्याय सम्बन्धी कार्यों का अभास मिल जाता है।

सीमित राज्यतन्त्र

यहाँ राजतंत्रीय प्रणाली से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि राजाओं के हाथ में स्वच्छन्द और निरंकुश शक्ति थी। पश्चिम के प्रायः अधिकांश विद्वानों ने पूर्वीय देशों के इतिहास पर लिखते समय सरसरी तौर से यह लिख डाला है कि पूर्व में शासन की दृष्टि से सर्वदा निरंकुशता का ही बोल बाला था। इसके लिये उन्होंने सामान्य संज्ञा दी है "ओरियन्टल डेसपॉटिजम" अर्थात् पौर्वात्य निरकुशता।[२] परन्तु एशिया के और देशों की

---

१. वा. रा., उत्तरकांड, ७४, १—६।

२. "दि हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ् दि इंडियन पीपुल" : अंग्रेजी में : मजुमदार और पुसालकर द्वारा सम्पादित जिल्द १, पृष्ठ ३९।

चर्चा यहाँ न करके यदि केवल भारतीय इतिहास को ही ध्यान में रखा जाय तो इस कथन की सत्यता केवल मध्य-युग में ही दिखाई देती है और यह कहा जा सकता है कि निरंकुशता का सर्वाधिक प्रचलन मुसलमानी शासकों ने ही किया। हर्षवर्धन के पूर्व का भारतीय इतिहास यदि सही रूप में देखा जाय तो शासकों को निरंकुश नहीं कहा जा सकता। बुद्धपूर्व काल में तो ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं जहाँ निरंकुश शासकों का शासितों और राज्यचिन्तकों ने सक्रिय विरोध कर के या तो उन्हें राजगद्दी से हटा दिया अथवा कभी कभी उनका बध भी कर दिया। उसके बाद उन्होंने नियमानुकूल शासन करने वाले राजाओं को गद्दी दी। राजावेण का उरुमन्थन[1] भारतीय साहित्य में प्रसिद्ध है। ऐसा लगता है कि यह उनके बध का ही आलंकारिक वर्णन है। उनके पुत्र पृथु वैण्य ने उससे शिक्षा ली और अपनी लोकप्रियता के लिये सतत् प्रयत्न किया।

वाल्मीकि रामायण में ऐसे अनेक स्थल प्राप्त होते हैं, जहां यह वर्णन है कि इक्ष्वाकु राजाओं ने अपनी प्रजा का पुत्र की तरह पालन किया। अयोध्याकांड में राजा दशरथ ने अपनी सभा के सम्मुख यह कहा है "आप जानते हैं कि मेरे पूर्वजों ने मेरे उत्तम राज्य का पुत्र की तरह परिपालन किया है"।[2] कालिदास ने इस वर्णन की पुष्टि करते हुये यह लिखा है कि रघुवंशी राजा ही अपनी प्रजा का सच्चा पितृत्व करते थे। प्रजाओं को जन्म देने वाला पितृवर्ग तो केवल नाम मात्र का था। भरण-पोषण और रक्षण के द्वारा राजा ही उनका असली पिता था।[3] राम के सम्बन्ध में भी, जब वे वन जाने लगे, पौरों ने यह कहा कि उन्होंने उनकी पुत्र की तरह रक्षा की है।[4] इस प्रकार का प्रजावात्सल्य आगे चल कर अशोक ने भी प्रदर्शित किया और उन्होंने अपने प्रथम कलिंग शिलालेख में[5] कहा है "सब मुनि से प्रजा मम" अर्थात् सभी लोग मेरी प्रजा हैं। प्रजा का अर्थ यहां पुत्र पुत्रियों से है। परन्तु इस प्रकार के कथन में कुछ विद्वानों को निरंकुशता की गन्ध मिली है और यह कहा गया है कि इस प्रकार के पितृस्वामित्व से राजाओं को अपनी प्रजा पर वे स्वच्छन्द अधिकार मिल गये जिनसे लाभ उठा कर उनके साथ वे चाहे जैसा व्यवहार करते थे।[6] परन्तु यहां यह ध्यान देने की बात है कि पिता और पुत्र का सम्बन्ध

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, ५९ वां अध्याय।

२. विदितं भवतामेतद्यथा मे राज्यमुत्तमम्। पूर्वकैर्ममराजेन्द्रैर्सुतवत्परिपालितम्॥ वा. रा., अयोध्याकांड २ पृ० ४।

३. प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणदपि। सपिता पितरस्तासां केवलं जन्म हेतवः॥ रघुवंश १, २४।

४. यो नः सदा पालयति पिता पुत्रानिवौरसान्। कथं रघूणांस श्रेष्ठस्त्यक्त्वानो विपिनं गतः॥ वा. रा. अयोध्याकांड ४७, ६।

५. जनार्दन भट्ट कृत, 'अशोक के धर्मलेख' पृष्ठ २७६।

६. (अ) दे. रा. भंडारकरकृत 'अशोक' : अंग्रेजी में : कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रकाशन, १९२५. पृष्ठ ६३।

(ब) दे. रा. भंडारकृत सम ऐस्पेक्ट्स आंफ् ऐन्शियट हिन्दू पांलिटी : अंग्रेजी में : १९२८, पृष्ट १६९।

स्वामित्व और अधिकार का उतना नहीं होता जितना वात्सल्य प्रेम और सज्ञान भलाई की भावना का। यह सम्बन्ध प्राचीन यूनान के नागरिकों और गुलामों ('हेलटस्') के संबंध जैसा हो, यह कभी स्वीकार नहीं किया जा सकता। अपनी प्रजा को पुत्र की तरह पालने वाला राजा निश्चय ही उसके प्रति प्रेम करेगा, मनमाना व्यवहार और अत्याचार नहीं। निश्चय ही इक्ष्वाकु वंशी राजाओं का यह भाव रहा होगा कि जैसे उनके औरत, पुत्र और पुत्रियां सुखी रहें, वैसे ही सुख का भोग उनकी प्रजा भी करे। इस तर्क के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रामराज्य सच्चे अर्थ में प्रजावात्सल्य से प्रेरित होकर अपनी राज्यसीमा में रहने वालों के लिये एक आदर्श पिता की नाईं मार्गदर्शक, रक्षक और पोषक का कार्य करता था।

रामराज्य एक सीमित राजतंत्रीय पद्धति वाला राज्य था। अयोध्या के इक्ष्वाकु कुल ने कभी तत्कालीन शासन सम्बन्धी नियंत्रणों का उलंघन नहीं किया। हां यह अवश्य कहा जा सकता है कि सीमित राज्यतंत्र का जो अर्थ आज लगाया जाता है, संभवतः वही अर्थ उस समय की सीमाओं के सम्बन्ध में नहीं प्रतिष्ठित किया जा सकता। उस काल की राजतंत्रीय सीमाओं और आजकल की सीमाओं में बड़ा अन्तर हो गया है। समय की अत्यन्त तीव्र गति के साथ प्राचीन भारतीय वर्णाश्रम का महत्व और समाज पर उसका कठोर बन्धन अब समाप्त सा हो गया है। परन्तु प्राचीन भारत की सम्पूर्ण व्यवस्था ही वर्णाश्रम पर आधारित थी और तत्कालीन किसी भी सामाजिक अथवा ऐतिहासिक पहलू पर विचार करते समय एक ऐतिहासिक सहिष्णुता का परिचय देना आवश्यक है। क्षत्रिय राजा, ब्राह्मण मंत्रियों और ऋषियों की आज्ञा का पालन करना अपना एक बन्धनयुक्त कर्त्तव्य मानते थे और इस कर्त्तव्य के पालन के बाद अपने कार्य क्षेत्र में वे गलतियों से इस कारण बच जाते थे कि उनको अधिकांश अवसरों पर स्वार्थरहित और शास्त्रासम्मत् राय मिलती थी। इक्ष्वाकु कुल के शासकों ने प्रायः सभी बड़े बड़े अवसरों पर उन समस्त लोगों की राय ली जिनकी राय आवश्यक थी।

मंत्रिपरिषद

शासनकार्यों में राजा की मुख्य सहायक संस्था मंत्रिपरिषद थी। मंत्रियों को रामायण में अनेक संज्ञायें दी गई हैं और कोई भी एक शब्द ऐसा नहीं मिलता जो सदा उनके लिये प्रयुक्त किया गया हो। उन्हें अमात्य[१], सचिव[२] और मंत्री[३], इन तीन ही नामों से वाल्मीकि ने उपस्थित किया है। दशरथ के समय में मंत्रिपरिषद के संख्या की दृष्टि से ८ सदस्य थे।[४] इन्हीं आठ मंत्रियों का राम के शासन काल में भी वर्णन प्राप्त होता है

१. वा. रा. बालकांड ७, १।
२. वा. रा. बालकांड ८, २१।
३. ,, ,, ,, ७, ४।
४. धृष्टिर्जयन्तो विजयः सिद्धार्थो ह्यर्थसाधकः।
अशोको मन्त्रपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमोऽभवत्॥ बालकांड ७, ३ तथा युद्धकांड १३०, १०...११।

और यह कुछ असम्भव नहीं है कि उन्होंने बहुत समय तक मंत्रित्व का कार्य किया हो।[१] वाल्मीकि रामायण में उपर्युक्त ८ मंत्रियों के निम्नलिखित नाम गिनाये गये हैं।[२] १. धृष्टि, २. जयन्त, ३. विजय, ४. सिद्धार्थ, ५. अर्थसाधक, ६. अशोक, ७. मंत्रपाल और ८. सुमन्त। रामायण की इस तालिका का समर्थन अग्निपुराण से भी होता है।[३] परन्तु इन दोनों तालिकाओं में कुछ अन्तर भी है। अग्निपुराण रामायण वाले पांचवें मंत्री 'अर्थसाधक' का नाम नहीं देता अपितु उसके बदले में 'राज्यवर्धन' नामक मंत्री को रखता है। उसके अलावे वह सातवें मंत्री 'मंत्रपाल' को भी 'धर्मपाल' के नाम से उपस्थित करता है। ऐसा लगता है उपर्युक्त दो नामों में अन्तर का कोई विशेष महत्व नहीं है। 'राज्यवर्धन', 'अर्थसाधक' का पर्यायवाची दूसरा नाम ही प्रतीत होता है। इसी तरह 'धर्मपाल' को भी 'मंत्रपाल' की दूसरी संज्ञा माना जा सकता है। यहां यह ध्यान रखने की बात है कि मंत्रियों की सूची में वसिष्ठ का नाम नहीं आता परन्तु वे थे राजा को राय देने वालों में सर्वप्रधान। मंत्रियों की सूची में उनका नाम न आने का यह कारण है कि वे राजकुमारों को शिक्षा देने वाले राजगुरु तथा राज्य के यज्ञीय विधिविधान के अधिष्ठाता 'राजपुरोहित'[४] थे। परन्तु इस दृष्टि से वे मंत्रियों से भी अधिक मुख्य और प्रभावशील थे। उनकी राय का राजा के लिये अधिक महत्व होता था। अग्निपुराण इस बात की ओर स्पष्ट इशारा करता है और उपर्युक्त आठ मंत्रियों के अतिरिक्त वसिष्ठ की भी गिनती करता है।[५] वाल्मीकि का यह मत है कि शूर, मेधावी, दक्ष और विचक्षण एक भी अमात्य यदि हो तो वह राजा अथवा राजपुत्र को बहुत बड़ी श्री प्राप्त करा सकता है।[६]

मंत्रिपरिषद् के अधिकार और कार्य

राज्य-शासन के कार्यों में मंत्रियों के हाथों में निर्णय के अधिकार इतने प्रबल थे कि वाल्मीकि को अनेक स्थलों पर उनकी ओर निर्देश करना पड़ा। विश्वामित्र ने राजा दशरथ से उनके पुत्र राम को राक्षसों के दमन के लिये मांगते समय यह कहा कि यदि मंत्रियों की अनुज्ञा हो तो राजा उन्हें राम को दे दें।[७] राजा दशरथ ने जब यह विचारा कि राम को यौवराज्यपद दे देना चाहिये तो उन्होंने अपने मंत्रियों की राय जाननी चाही। वहाँ

१. वही
२. वही
३. अग्निपुराण, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रंथावलि, पूना, १९०० ई०, अध्याय ६, श्लोक ४।
४. "वसिष्ठंमेवामिमुखा: श्रेष्ठं राजपुरोहितम्।" वा० रा० अयोध्याकांड ६७,४।
५. अग्निपुराण आनन्दाश्रमसंस्कृत ग्रंथावलि, पूना, १९०० ई०, अध्याय ६, श्लोक ४।
६. ऐकाऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दक्षो विचक्षणः। राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम्॥ वा० रा० अयोध्याकांड १००,२४।
७. स्थिरमिच्छसि राजेन्द्र रामं मे दातुमर्हसि। यद्यभ्यनुज्ञां काकुत्स्थ ददते तव मंत्रिणः॥ वही बालकांड १९,१६।

दशरथ ने अपने मंत्रियों से यह कहा कि यदि उनकी इच्छा से मंत्रिगण भी सहमत हों तो वे राम को उक्त पद पर आसीन कर दें।[१] यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि बिना राजा और मंत्रियों की संयुक्त राय के राज्य के कोई भी महत्वपूर्ण कार्य का होना असम्भव था और इस दृष्टि से मंत्रियों के अधिकार काफी महत्वपूर्ण थे। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि जो लोग उपर्युक्त अवसर पर दशरथ को मंत्रणा देने के लिये बुलाये गये उनमें केवल मंत्रिपरिषद के सदस्य ही नहीं थे अपितु उनके अतिरिक्त राज्य के और भी अनेक वर्गों के लोग थे जो मंत्रिपरिषद के अलावे भी परम्परागत रूप से विशेष अवसरों पर राजा के सम्मुख अपना मन्तव्य उपस्थित करने के लिये बुलाये जाते थे।[२] उनके सम्बन्ध में आगे प्रसंग से चर्चा की जायगी। यहाँ केवल मंत्रिपरिषद के मंत्रियों के अधिकारों की चर्चा करते हुये यह उचित प्रतीत होता है कि उन्हीं के अधिकारों तक सीमित रहा जाय। मंत्रिपरिषद की स्थिति और उनके अधिकार संवैधानिक दृष्टि से निश्चित थे तथा उसका रूप कुछ गैररस्मी न होकर राजनैतिक और संस्थात्मक था। यह असम्भव था कि राज्य-कार्यों के सम्बन्ध में आज्ञा निकालने के पूर्व राजा उनसे राय न ले तथा उनको अपने पक्ष में किये बिना ही कोई कदम उठावे। हां यह अवश्य था कि राजा के हाथों में अन्तिम निर्णय की शक्ति थी और अधिकांश अवसरों पर उसी के विचारों से कार्यों का प्रारम्भ भी होता था। इस मत की पुष्टि के हेतु राजा दशरथ और राम के द्वारा अनेक अवसरों पर जो मंत्रिपरिषद् की बैठकें बुलाई गईं, उनकी ओर निर्देश किया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप दशरथ ने अश्वमेधयज्ञ के प्रारम्भ के लिए मंत्रियों को बुलाकर मंत्रणा ली।[३] गरीब ब्राह्मण के इकलौते पुत्र के मर जाने के बाद उसके कारणों पर विचार करने के लिये रामचन्द्र ने भी मंत्रियों की बैठक बुलाई।[४]

राजसभा

उपर्युक्त जितने भी अवसर ऐसे बताये गये हैं जहां राजाओं ने औरों की भी राय जाननी चाही उन सभी अवसरों पर राज्य के प्रमुख ऋषि-मुनि और ब्राह्मण लोग भी बुलाये जाते थे। दशरथ ने अपने अश्वमेघ यज्ञ के प्रारम्भ के हेतु राय लेने के लिए "सुयज्ञ, वामदेव, जाबालि, काश्यप, पुरोहित वसिष्ठ और दूसरे भी जो श्रेष्ठ ब्राह्मण थे उन्हें बुलाया"।[५] उन्हें "वेदपारंग" कहा गया है।[६] राम को युवराज पद देने की इच्छा

१. यदीदं मे अनुपार्थं मया साधु सुमंत्रिम्। भवन्तोमे अनुमन्यन्तां कथं वा करावण्यहम्॥ वही अयोध्याकांड २, १५।
२. वा. रा. अयोध्याकांड २, १९।
३. सनिश्चितां मतिं कृत्वा यष्टव्यमिति बुद्धिमान्। मन्त्रिभिः सह धर्मात्मा सर्वैरेव कृतात्मभिः॥ वा. रा. बालकांड ८, ३।
४. मंत्रिणो नैगमाश्चैव यथार्हमनुकूलतः...॥ वही, उत्तरकांड, ७४, ६।
५. सुयज्ञं वामदेवं च जाबालिरथकाश्यपम्। पुरोहितं वसिष्ठं च ये चान्ये द्विजसत्तमाः॥ वही, बालकांड ८, ६।
६. वही ८, ५।

होने के समय भी उन्होंने ब्राह्मणों से अनुमति चाही।[१] उस अवसर पर उन्हें 'श्रेष्ठ द्विज' कहा गया है।[२] द्विज शब्द से ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य तीनों ही वर्णों का बोध होता है अतः यहां यह कहा जा सकता है कि विशेष अवसरों पर राजाओं को मंत्रणा देने के समय ब्राह्मणों के साथ क्षत्रियों और वैश्यों के मध्य से भी बुद्धिमान लोगों की बुलाहट होती थी। वाल्मीकि ने रामायण के उत्तरकांड में जहां राम की सभा में सीता की शपथ का प्रसंग उपस्थित किया है उससे राजसभा के पूरे स्वरूप का आभास मिल जाता है। तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण वर्णन को यहां दुहराने का लोभ-संवरण नहीं किया जा सकता और वह इस प्रकार है "उसके बाद रात बीत जाने पर रामचन्द्र ने यज्ञशाला में जाकर सभी महातेजस्वी ऋषियों को बुलवाया। वसिष्ठ, वामदेव, जावालि, काश्यप, विश्वामित्र, दीर्घतमा, दुर्वासा, पुलस्त्य, शक्ति, भार्गव, वामन, दीर्घायु, मार्कण्डेय, महायशस्वी गौतम, कात्यायन, सुयज्ञ अगस्त्य आदि अनेक व्रतधारी लोग कौतूहलपूर्वक वहां आये"। उनके अलावे "महाबलशाली राक्षस, महाबली बानर, अन्य महात्मा, ऋषि तथा हजारों की संख्या में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी आये। अनेक देशों से व्रतधारी ब्राह्मण उपस्थित हुये। महारानी सीता की शपथ देखने के हेतु अनेक ज्ञाननिष्ठावाले तथा योगनिष्ठावाले लोग उपस्थित हुये"।[३] "यहां यह ध्यान देने की बात है कि उपर्युक्त अवसर पर ये सभी लोग सीता की पवित्रता में कोई संदेह नहीं है, इस बात को अपनी आंखों देखने उपस्थित हुये थे। सीता ने पवित्रता की शपथ लेते हुए पृथ्वी माता की शपथ ली और उसमें समा गई। परन्तु राजसभा का अधिकार केवल किसी कार्य विशेष का निरीक्षण मात्र ही नहीं होता था। उपस्थित विषयों पर विचार करना और अन्त में राजा को अपनी राय देना उसका मुख्य कर्तव्य होता था। राजा को ऐसी बैठकों का सबसे बड़ा लाभ यह होता था कि सबकी राय जान लेने पर उसको अपने कार्यों में जनमत का बल प्राप्त हो जाता था और भविष्य की आशंकाओं से मुक्ति मिल जाती थी यहां यह ध्यान दिया जा सकता है कि जिस प्रकार की राजसभा राम ने सीता की शपथ के समय बुलाई, वह कभी ही कभी विशेष अवसरों पर आमन्त्रित की जाती थी। उसमें आमन्त्रित लोगों के अलावे चाहे जो भी उपस्थित हो सकता था और किसी के आने पर कोई रुकावट नहीं थी। परन्तु राजसभा के विशेष अधिवेशनों को आमंत्रित करने का अधिकार और कार्य राजा ही प्रारम्भ करता था और उस सम्बन्ध में कोई निश्चत नियम हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। तथापि ऐसा नहीं था कि किसी भी महत्वपूर्ण निर्णय के पहले राजाओं ने इसकी बैठक न बुलाई हो। बैठक होने के समय इसके मुख्य लोग, जिनके परामर्श को शासक अत्यन्त हो बहुमूल्य मानता था, ऋत्विग ब्राह्मण और ऋषि-मुनि ही होते थे। इन्हें रामायण में वेदपारग[४], गुरु[५], द्विज[६], द्विजाति[७], और ब्राह्मण[८] कहा गया है। राजसभा मंत्रिपरिषद से भिन्न थी और दोनों में यह अन्तर था कि मंत्रिपरिषद एक

---

१. वा. रा. अयोध्याकांड २, १०।
२. वही।
३. वा० रा० उत्तरकांड ९६, १—९
४. वा० रा० बालकांड ८, ५।
५. वा० रा० बालकाण्ड ८, ४।
६. ,, ,, १२, २०
७. ,, ,, १२, ५
८. ,, अयोध्याकाण्ड ६८, १

स्थायी संस्था थी जो विभागीय नियंत्रण करती थी तथा जिसके संवैधानिक अधिकार थे।[१] राजसभा का रूप विशेषतः अनिश्चित था और इसकी स्थिति बहुत हद तक परम्परागत थी। जिसकी विशेष बैठकों में मंत्रिमंडल के अमात्यगण भी उपस्थित होते थे।[२] इस राजसभा को वाल्मीकि ने 'परिषद' के नाम से उपस्थित किया है।[3] यहां यह भी कह देना आवश्यक होगा कि राजसभा के दो रूप थे। एक तो वृहद्रय जिसे हम सीता की शपथ-ग्रहण के अवसर पर उपस्थित पाते हैं और दूसरा छोटा रूप जो प्रायः सर्वदा ही राजा के पास वर्तमान होता था तथा जिसे राजदरबार कहा जा सकता है। छोटे रूप वाली राजसभा में राजा प्रायः नित्य प्रति ही बैठता था और शासन कार्यों के सम्बन्ध में आज्ञा देता, उसकी देख-रेख करता, और कभी-कभी वहां न्याय का वितरण भी करता था। वाल्मीकि ने राजसभा के लोगों को भी 'मंत्री' कहा है।[४] परन्तु केवल मंत्रणा अर्थात् परामर्श देने के अर्थ में ही वे 'मंत्री' थे। वे मंत्रिपरिषद नामक संस्था के स्थायी सदस्य मन्त्री नहीं थे।

राजकर्त्ता लोग

वाल्मीकि ने रामायण मे राजकर्त्ताओं की भी चर्चा की है। राजा दशरथ के दिवंगत हो जाने पर अयोध्या में राजगद्दी का कोई अधिकारी उपस्थित नहीं था। राम पहले ही वन जा चुके थे और भरत अपने मामा के यहाँ केकयदेश में थे। ऐसी स्थिति में राजगद्दी शून्य थी और राजदरबार में राजकर्त्ताओं ने उपस्थित होकर राजपुरोहित वसिष्ठ से यह प्रार्थना की कि वे तत्काल किसी को गद्दी पर बैठाने का यत्न करें।[५] स्वर्गीय विद्वान् श्री काशी प्रसाद जायसवाल ने 'राजकतृन्' की व्याख्या करते हुये एक अन्य स्थान पर यह मत व्यक्त किया था कि राजकर्त्ताओं में कोषाध्यक्ष, सेनापति, ग्रामणी तथा अन्य कुछ लोग होते थे, जिनका सबसे बड़ा अधिकारी राजा होता था।[६] रामायण में "राजकर्ताओं" में कौन कौन होते थे इसका वर्णन नहीं प्राप्त होता। और न तो उपर्युक्त अधिकारियों में किसी का भी उस स्थान पर वर्णन ही है। श्री जायसवाल जी नें अपने मत की पुष्टि के लिए कुछ 'ब्राह्मण" ग्रन्थों और कृष्ण यथुर्वेद का आधार लिया था[७] और रामायण उपर्युक्त अधिकारियों की चर्चा यदि राजकर्ताओं के प्रसंग में नहीं करता तो यह नहीं कहा जा सकता कि वे अधिकारी उस अवसर पर उपस्थित नहीं थे। अस्तु, जिन लोगों का वर्णन उस स्थल पर है उनमें अमात्यों के साथ मार्कन्डेय, मौद्गल्य, बामदेव, काश्यप, कात्यायन, गौतम तथा

---

१. देखिये पीछे पृष्ठ १५

२. वा० रा० अयोध्याकाण्ड, सर्ग २।

३. ,, ,, २, १।

४. ,, बालकाण्ड ७, ४ के बाद

५. इक्ष्वाकुणामिहाद्यैव कश्चिद्राजा विधीयताम्।
अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं समवाप्तुयात्॥ वा० रा० अयोध्याकाण्ड ६७, ८

६. देखिये 'हिन्दू पॉलिटी' (अंग्रेजी में), १९४३ संस्करण पृष्ठ १९५।

७. वही, १९५ पृष्ठ का पादटिप्पणी।

जाबालि, इन सात ब्राह्मण ऋषियों का भी नाम आता है और यह कहा जा सकता है कि राजकर्त्ताओं में मंत्रिमंडल के सदस्य अमात्यों के साथ मुख्य मुख्य ब्राह्मण और ऋषि भी होते थे। रामायण में ऐसा वर्णन है कि ब्राह्मण ऋषिगण का पक्ष और उसके विचार अमात्यों से भिन्न थे।[१] और अन्त में उन्हों ने राजपुरोहित वसिष्ठ को निर्णय का भार दे दिया और कह दिया कि वे चाहे जिसे भी राजा घोषित कर दें। वसिष्ठ को इतना बड़ा अधिकार इस नाते दिया गया कि वे अपनी विद्या, आचरण तथा निःस्वार्थता के कारण सबको मान्य थे। राजा की अनुपस्थिति में कौन राजगद्दी का अधिकारी हो, इसका निर्णय तो राजकर्ताओं के हाथ में था।[२] जब भरत वसिष्ठ की आज्ञा से अपने मातुलकुल से अयोध्या बुला लिये गये, तब उन्हीं राजकर्ताओं ने उनसे यह प्रार्थना की कि वे राजगद्दी ग्रहण करें।[३] उस अवसर पर राजकर्ताओं ने भरत को स्वजनों और श्रेणियों के नाम पर गद्दी देने का प्रस्ताव किया।[४] इससे यह प्रकट होता है इन राजकर्ताओं में श्रेणियों अर्थात् व्यापारिक संघों के भी प्रतिनिधि रहे होंगे और राजगद्दी पर किसी को बैठाने का कार्य राजकर्ताओं के ही हाथों में था। ऐसी परिस्थिति में किसी भी राजा के लिये इनके सन्मुख राजगद्दी ग्रहण करते हुये शपथपूर्वक उनके परम्परागत अधिकारों की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य मानना आवश्यक था।

जनमत का आदर

शासन सम्बन्धी निर्णयों पर प्रभाव डालने वाली जनमत की प्रबलता रामराज्य की सबसे बड़ी विशेषता थी। यह कहा जा सकता है कि उस राज्य की चिरप्रतिष्ठा का कारण भी जनमत का आदर ही था। इस सम्बन्ध में सबसे मुख्य घटना सीता का परित्याग थी। आज जब हम रामायण का पूरा अध्ययन करते हैं तो वाल्मीकि के कथनानुसार यह स्वीकार करते हैं कि सीता राक्षसराज रावण की लंकापुरी में रहते हुये भी पवित्र थी। हम यह भी विश्वास करते हैं कि सीता ने रावण की ओर आंख उठाकर देखने से भी इनकार कर दिया था।[५] लंका में सर्व प्रथम घुसने के बाद जब हनुमान जैसे रामभक्त ने उनसे यह कहा कि उनकी पीठ पर यदि सीता बैठ जांय तो वह बात की बात में समुद्र पार राम के पास पहुंचा दी जा सकती हैं तो उन्हें उत्तर मिला कि किसी भी परपुरुष का अपनी रक्षा के लिये भी वे जान बूझ कर स्पर्श नहीं कर सकतीं।[६] इतना ही नहीं, सभी देवताओं, ऋषियों तथा ब्राह्मणों के संमुख अपनी पवित्रता का परिचय वे अग्नि परीक्षा से दे चुकी थीं।[७] ऐसी पवित्र और पतिव्रता तथा अपनी एक मात्र प्रेयसी पत्नी सीता का गर्भधारण करने की अवस्था में रामचन्द्र ने एक धोबी की शिकायत सुन

१. ऐतेद्विजा सहामांत्यैर्पृथग्वाचमुदीरयन्। वा० रा० अयोध्याकांड ६७, ४
२. वही, ६७, २—५
३. वही, अयोध्याकांड, ७९, १—४
४. वही, ७९,४
५. वा. रा. सुन्दरकांड २१, ११३
६. ,, ,, ३७, ६२—६४
७. वा. रा. युद्धकांड, सर्ग ११९ और १२०।

कर, परित्याग कर दिया यह बड़ा ही निन्दनीय कर्म था, ऐसा हम सोचते हैं। आज की परिस्थिति में यही सोचा भी जा सकता है। यद्यपि यह भी सम्भव है कि अपवाद के अवसर पर आज भी अपनी स्त्रियों के सम्बन्ध में लोग यही करें। परन्तु यहां हम राम के राजा वाले रूप को भूल जाते हैं तथा केवल उनके व्यक्तिगत रूप का ही ध्यान करते हैं। इसका कारण यह है कि आज कल यह एक सिद्धान्त सा बन गया है कि किसी भी ऐसे मनुष्य के सम्बन्ध में जो शासन के किसी बड़े पद पर है अथवा किसी अन्य प्रकार का ही जनगत जीवन रखता है, व्यक्तिगत जीवन की ऊंचाई की चिन्ता न की जाय। इन दिनों, विशेषतः पश्चिम में, ऐसा विश्वास सा हो चला है कि जनगत जीवन में कोई अधिकार प्राप्त पुरुष यदि कुछ सफाई दिखाता है तो उसका घर के भीतर व्यक्तिगत व्यवहार क्या है, इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। फलतः व्यक्ति के दो मुख हो गये हैं, एक तो वह जिसे वह समाज की ओर फेरकर दिखाता है अथवा बनाता है, और दूसरा वह जो उसका अपने तईं है। यदि उसका असली मुख अशोभन हो तो वह यह दलील देता है कि उसे दूसरे लोग न देखें। लोकतंत्र और चुनाव के युग में यह सम्भव है, यद्यपि यह उसकी कमजोरी भी है कि असत् चरित्र का व्यक्ति भी उच्च पद पर आसीन हो जाय। परन्तु यही परिस्थिति रामराज्य की भी थी, यह नहीं कहा जा सकता। राजा यदि राजा होने का दम भरता है तो उसका कोई व्यक्तिगत जीवन नहीं रह जाता। वह जो कुछ करता है सब जनगत है। वही उदाहरण प्रस्तुत करता है और उसे बुरा उदाहरण प्रस्तुत करने का कोई अधिकार नहीं है। वह जैसा भीतर हो वैसा ही बाहर हो, यही आदर्श है। भीतरी सफाई के बिना बाहरी सफाई आ नहीं सकती। इस दृष्टि से राम का अपना कोई गुप्त जीवन नहीं था। उनकी ऐसी कोई करनी नहीं हो सकती थी जिसे प्रजा अपनी कसौटी का विषय न बना ले। रामायण में राम को बनवास प्रवेश के बाद, वाल्मीकि जब भी उपस्थित करते हैं तो वह राजा की हैसियत से ही करते हैं। लंका विजय करके लौटे हुये राजा राम के शासन में यह शिकायत मिलती है कि उन्होंने राक्षस के घर में रही हुई सीता स्त्री को पुनः रख लिया है। यह केवल एक धोबी ने कहा हो, ऐसी बात नहीं। उस व्यक्ति ने तो सारे जनसमाज के मुख का कार्य किया। उस समय साधारण जनसमाज के पास सीता की पवित्रता जानन का साधन भी क्या था? उनके सामने कोई वाल्मीकि नहीं थे जो उन्हें तत्सम्बन्ध में कुछ बताते। उनके सामने सीता का अग्नि परीक्षण भी नहीं हुआ था। जिसे देख कर उन्हें सीता की निष्कलंकता का ज्ञान होता। राम सीता की पवित्रता जानते थे परं विवश थे। जनता के हृदय में खोये हुये विश्वास को पुनः जगाना था। यदि राजा रहना था तो उसका मूल्य चुकाना आवश्यक था। उनके सम्मुख बहुत बड़ा धर्म संकट था। पारिवारिक सुख और अपनी परिणीता के पुण्य को छोड़े अथवा प्रजा-विश्वास को। शासक थे और रामराज्य के संस्थापक राम थे, अतः छोटी वस्तु पारिवारिक प्रणय को छोड़ दिया और बड़ी निधि जन-विश्वास को संजोया। उन्होंने अपना यह अधिकार नहीं माना कि सीता के सम्बन्ध में अन्य कोई कुछ कहने का अधिकारी नहीं है क्योंकि यह उनकी व्यक्तिगत बात है। प्रजा के सम्मुख अपने को खरा साबित करने के लिए इतने बड़े त्याग का प्रमाण विश्व के इतिहास में संभ-

वतः और कहीं किसी युग में नहीं प्राप्त होता। राम स्वयं जानते थे कि सीता अग्नि की नाई पवित्र थीं और संभवतः यह समझ कर कि उनके राज कर्तव्य को सभी उसी प्रकार से नहीं माप सकेंगे, जैसा वे माप सकते थे, उन्होंने लक्ष्मण को सीता को बन में छोड़ जाने की आज्ञा देते समय किसी प्रकार का भी तर्क उपस्थित करने से मना कर दिया।[१] यहां यह स्मरण रखने की वस्तु है कि पहले कभी किसी भी विषय पर लक्ष्मण का मन्तव्य सुनने से उन्होंने इनकार नहीं किया था। वे जानते थे कि पारिवारिक इमानदारी की दृष्टि से सीता का परित्याग अनुचित था परन्तु उससे भी बड़ी कोई वस्तु थी और वह थी जनता के विश्वास की निधि जिसे किसी भी मूल्य पर खोने को वे तैयार नहीं थे।

धर्म संस्थापक राजा

राम के शासन की दूसरी विशेषता यह थी कि वे अपने को धर्म प्रवर्तक नहीं धर्म संस्थापक मानते थे। इस सम्बन्ध में सबसे मुख्य घटना है शम्बूक के वध की।[२] इस घटना को भी समझने के लिये हममें इतिहास के अध्ययन के लिये अपेक्षित प्राचीनता के सम्बन्ध में एक सहानभूति अथवा संवेदनशीलता की आवश्यकता है। वर्णाश्रम की प्रथाओं के बारे में आज हमारे चाहे जो भी विचार हों, यह निर्विवाद है कि प्राचीन भारत में उन दोनों संस्थाओं की अद्वितीय प्रतिष्ठा थी।[३] समाज इन्हीं को मानकर अपने प्रत्येक कार्यों में प्रेरित होता था। इनकी उत्पत्ति के इतिहास में यहाँ प्रवेश न करते हुये भी यह कह देना आवश्यक है कि राम का समय आते आते वर्ण जन्म से ही तय किया जाने लगा था। समाज यह स्वीकार करता था कि वर्णानुसार ही मनुष्य अपने कर्तव्य में स्वतंत्र है और वह उसकी सीमा को लांघ नहीं सकता। इस व्यवस्था में कोई व्यवधान न पड़े यह देखना शासकों का कर्तव्य था और लोग ऐसा मानते थे कि उस कर्तव्य में किसी प्रकार का भी प्रसाद जनता को विपत्तियों के रूप में भोगना पड़ता है। शम्बूक नामक शूद्रऋषि की तपस्या का कुफल गरीब ब्राह्मण पर पड़ा और उसकी एक मात्र सन्तान बालक पुत्र का देहावसान हो गया।[४] यह राजा के पाप बिना असम्भव था।[५] ब्राह्मण ने विलाप करते हुये यह कहा कि उसने न तो कभी झूठ बोला और न कभी कोई पाप ही किया ऐसी दशा में राजा ही उसके पुत्र की अकाल मृत्यु में उत्तरदायी था।[६] राम ने इस निर्णय को माना और

---

१. शीघ्रमागच्छ भंद्रते कुरुष्व वचनं मम। न चास्मि प्रतिवक्तव्यः सीतां प्रति कथंचन्॥ वा. रा. उत्तरकान्ड, सर्ग ४५, श्लोक १९।
२. वा. रा. उत्तरकांड, ७६, ४।
३. डॉ० वेणी प्रसाद कृत 'दि स्टेट इन ऐंशियेन्ट इण्डिया' (अंग्रेजी में) १९२८, पृष्ठ ११।
४. अद्यतप्यतिदुर्बुद्धिस्तेन बालवधो ह्यम्। योहत्रधर्ममकार्यं वा विषये पार्थिवस्य च। वा. रा. उत्तरकांड ७४, २९।
५. रामस्य दुष्कृतेनायं बाल एव ममात्मजः। अकृत्वापितृकार्याणिगतो वैवस्वतक्षयम्। वही ७३, १०।
६. वही ७३, ५, १०।

उस ब्राह्मण बालक की मृत्यु का कारण पता लगाते हुये शम्बूक नामक शूद्रऋषि को तपस्या करते हुये पाया ।[१] उसे अनधिकार चेष्टा के लिये दंड देना आवश्यक था और उस उचित दंड का फल भी शुभकारी हुआ। ऐसा कहते हैं कि ब्राह्मण का मृत पुत्र जी उठा ।[२] यहां यह स्पष्ट है कि राम का अधिकार व्यवस्था के प्रचलन का नहीं था अपितु उसका पालन कराना ही उनका मुख्य कर्तव्य था। निर्णय का अधिकार तो समाज का तथा उसके नेताओं का था। राजा समाज की इच्छाओं की पूर्ति में दंड की व्यवस्था द्वारा सहायक मात्र था। इस दृष्टि से राजा प्रजा का सेवक था।

दंड व्यवस्था

रामराज्य में दंड व्यवस्था क्या थी, यह भी विचारणीय प्रश्न है। अपने कर्त्तव्य से विमुख होने वाले किसी साधारणजन को जैसा दंड रामराज्य में प्राप्त होता था, वैसा ही दंड दोष होने पर राज्य के बड़े से बड़े अधिकारी को भी प्राप्त हो सकता था। यद्यपि न्याय शासन का तत्कालीन आदर्श यह था कि जो जैसा छोटा या बड़ा दोष करे वह तदनुरूप ही दंड पावे, तथापि बड़े दंडो के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। महाकवि कालिदास ने अयोध्या के सूर्यवंशी राजाओं को 'यथापराधदंड' अर्थात् अपराध के मुताबिक दंड देने वाला कहा है।[३] उन्होंने दंड के आदर्श की चर्चा करते हुये यह भी कहा है कि यदि राजा का प्रिय व्यक्ति कभी दुष्ट हो जाय तो सांप की काटी हुई अपनी अंगुली के घाव की तरह वह त्याज्य है।[४] वाल्मीकि रामायण में स्वयं राम ने चित्रकूट में भरत से कुशल प्रश्न करते हुये यह भी जानना चाहा कि वे अपनी प्रजा को उग्र दंड तो नहीं देते जिससे वह उद्वेजित हो जाय।[५] इन सब उद्धरणों से यह तो स्पष्ट है कि दंड का आदर्श 'यथापराधदंड' ही था। परन्तु इसके विपरीत भी एक बहुत बड़ा प्रमाण मिलता है। रामायण के उत्तर-कांड में राम की काल (यमराज) से बातचीत कराइ गई है।[६] काल की इच्छानुसार राम से यह तय पाया कि उन दोनों की बातचीत को जो भी सुने अथवा देखे, वह मार डाला जाय। लक्ष्मण को यह आज्ञा हुई कि वे द्वाररक्षक का कार्य करें तथा किसी को भी भीतर न आने दें। परन्तु बातचीत के मध्य में ही दुर्वासा ऋषि ने आकर लक्ष्मण के सम्मुख राम से मिलने की अपनी इच्छा प्रकट की। परम स्वामिभक्त लक्ष्मण ने उन्हें रोकना चाहा परन्तु उस मूर्तिमान क्रोध दुर्वासा की क्रोधाग्नि से बचने के लिए लक्ष्मण ने स्वयं जाकर राम को उस ऋषि के आने की सूचना दी। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार राम के लिए लक्ष्मण को दंड देना आवश्यक हो गया। उनके धर्म संकट की कल्पना सहज में ही की जा सकती है। लक्ष्मण जैसा राज्य का सबसे बड़ा स्वामिभक्त सेवक, अनन्यभक्त

---

१. वही, सर्ग ७५।
२. वही सर्ग ७६, ४, १५।
३. रघुवंश १, ६।
४. त्याज्यो दुष्टः प्रियोप्यासी दंगुलीवोरगक्षता॥ वही १, २८।
५. कच्चिनोग्रेण दंडेन मृशमुद्वे जितप्रजम्। वा. रा. अयोध्याकांड १००, २७।
६. वा. रा. उत्तरकांड, सर्ग १०४ से १०६।

और भाई तथा अनेक युद्धों का कुशल और सफल सेनापति एक तरफ और राम का अपना कर्तव्यपालन अथवा प्रतिज्ञापालन दूसरी तरफ किसे त्यागें और किसे अपनावें, यह कठोर निर्णय उन्हें करना था। क्या लक्ष्मण ने अपने कर्तव्य में प्रमाद किया था तथा उसके लिए उन्हें दंड मिलना आवश्यक था, यह भी तय करना बड़ा कठिन था। उनके सम्मुख भी तो यह प्रश्न था कि क्या वे अपने प्राणों की चिन्ता करके दुर्वासा ऋषि के आने की सूचना राम को न दें अथवा उनके क्रोध से सारे परिवार और राज्य को मर जाने से बचावें।[१] उन्होंने अपने प्राणों की बलि देकर और लोगों को बचाने का श्लाघ्य और उदाहरण योग्य कार्य किया। परन्तु इसके लिए उन्हें दंड मिला। वसिष्ट ऋषि की आज्ञा मान कर मृत्युदंड के बराबर देश निकाले का दंड उन्हें राम की ओर से दिया गया।[२] यह हुआ राम की प्रतिज्ञा रक्षा के लिये तथा कर्तव्यप्रमाद के लिए दंडस्वरूप, पर सब कुछ लगता है, मानो एक बड़ी विडम्बना हो। किंकर्त्तव्यविमूढ़ की अवस्था में पड़े हुये लक्ष्मण ने जब अपने दो कर्त्तव्यों में से बड़े कर्त्तव्य का पालन किया तो उन्हें दंड मिला कर्तव्य से प्रमाद के लिये। मिलना तो चाहिये था पुरस्कार पर मिला दंड। परन्तु इन सब का एक ही उत्तर प्रतीत होता है और वह यह है कि राम कोई भी बुरा उदाहरण जनता के सामने नहीं उपस्थित करना चाहते थे। लक्ष्मण को दंड न देने से प्रतिज्ञा भंग का दोष तो लगता ही, यह भी सम्भव था कि दंड कि प्रतिष्ठा ही लोक से सर्वदा के लिये उठ जाती। शासक की हैसियत से राम इतना बड़ा मूल्य चुकाने को कभी भी तैयार नहीं थे और लक्ष्मण को दंड देकर उन्होंने उचित ही किया।

रामराज्य में प्रजा को सुख

महाभारत में युधिष्ठिर के प्रश्नोत्तर में भीष्म ने यह कहा था कि समय की गति को राजा ही प्रवर्तित करता है, समय की गति राजा को नहीं। यह मत अत्यन्त प्राचीन था और सर्व साधारण जन भी इसे स्वीकार कर ऐसा विश्वास करते थे कि सुख अथवा दुख शासक के ही कर्त्तव्यों का फल होता है। राम का काल इस सम्बन्ध में अपवाद नहीं था। अराजक जनपद की विपत्तियों का जो वर्णन वाल्मीकि[३] ने किया है उसमें उन्होंने यह संकेत किया है कि राजा के रहने से वे विपत्तियां नहीं आतीं। परन्तु ऐसा नहीं कि कोई बुरा भी शासक यदि गद्दी पर रहे तो वे आपदायें टल जायेंगी। वहां तो राजा को अच्छा तथा सच्चे अर्थ में प्रजा सेवक होना चाहिये। यदि वह सचमुच तन, मन और धन से शासितों का सच्चा सेवकत्व करता रहा तो निश्चय ही लोगों को सुख होगा। राम का शासन इस दृष्टि से भी आदर्श था। वाल्मीकि रामायण में सुशासन अथवा सुराज्य का मुख्य रूप से दो स्थलों पर वर्णन आया है। प्रथम स्थल, जो बालकांड[४] से प्राप्त होता है, राजा दशरथ के सुशासन के फलों का वर्णन करता है।

---

१. वही
२. वा. रा. उत्तरकांड, १०६, १३।
३. वा. रा. अयोध्याकांड, सर्ग ६७।
४. वा. रा. बालकांड ६, ४ १६।

उद्धरणस्वरूप निम्नलिखित वर्णन अलम् होगा। "जिस प्रकार महातेजस्वी मनु ने लोक की भली प्रकार से रक्षा की वैसे ही राजा दशरथ ने भी उस कार्य को सम्पन्न किया। सत्य के पालन में लगे हुये दशरथ ने तीनों वर्गों अर्थात् धर्म, अर्थ और काम का अनुष्ठान किया और अयोध्या नगरी का वैसे ही पालन किया जैसे इन्द्र ने अमरावती का। उस श्रेष्ठ नगर में बहुश्रुत हृष्ट-पुष्ट और धर्मात्मा लोग रहते थे। साधारण नर सत्यवादी और अपने अपने धनों से संतुष्ट होने के कारण अलोभी थे। कहीं भी कोई कामी, कायर, नृशंस, अविद्वान और नास्तिक पुरुष अयोध्या में दिखाई नहीं पड़ सकता था। कोई भी मनुष्य अथवा स्त्री श्रीविहीन और रूपविहीन नहीं था। अयोध्या में कोई भी ऐसा नहीं दिखाई दे सकता था, जिसकी राजा में भक्ति न हो"। यहां इस उद्धरण में अन्तिम वाक्य ध्यान देने योग्य है। राज्यभक्ति की भावना अकस्मात् नहीं उत्पन्न होती, उसके लिए सुदृढ़ आधार की आवश्यकता होती है। वह आधार जनता को प्राप्त होने वाला सुख ही होता है। राजा दशरथ के शासन काल की प्रजा सुखरूपी निधि राम को मिली और उन्होंने इसकी रक्षा के साथ साथ उसका संवर्धन भी किया।

राम के शासन काल में उनके पिता राजा दशरथ के सुशासनजन्य फलों में और भी अधिक वृद्धि हुई। युद्धकांड के अन्त में वाल्मीकि ने जो कुछ भी उस सम्बन्ध में लिखा है वह चिरस्मरणीय है तथा आज के जनकल्याण-राज्य के लिए भी आदर्श हो सकता है। यहाँ उसे उद्धरित करने का लालच छोड़ा नहीं जा सकता। वह निम्नलिखित है।[1] "धर्मात्मा राघव राम ने उत्तम राज्य को प्राप्त कर अपने मित्रों और बन्धु बान्धवों के साथ अनेक यज्ञ किया। उनके शासन करते कोई भी स्त्री विधवा नहीं हुई तथा किसी को न सर्प का अथवा न किसी रोग का ही भय होता था। लोक दस्युओं अर्थात् चोरों से रहित हो गया। कोई किसी अन्य का धन छूता नहीं था। वृद्ध पुरुषों के सामने बालकों की मृत्यु नहीं होती थी। सभी लोग धर्मात्मा और प्रसन्न थे। राम को ही आदर्शस्वरूप देखते हुये कोई भी किसी दूसरे को कष्ट नहीं पहुंचाता था। प्रजाओं में राम की ही चर्चा होने लगी तथा राम के शासन करते हुये सारा जगत् राममय हो गया। स्कन्धों से भरे पूरे वृक्ष हमेशा फूल और फल देते रहते थे। पानी समय से बरसात था तथा पवन सुखस्पर्श था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी लोभरहित तथा अपने अपने कार्यों में संतुष्ठ होकर सभी लगे रहते थे। प्रजा राम के शासनकाल में धर्म में रत और सत्यवादी थी तथा सभी लोग धर्म परायण और लक्षणयुक्त थे।" यहां यदि इस उद्धरण का विश्लेषण किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि सुख की कल्पना तत्कालीन प्रचलित समाज व्यवस्था के आधार पर ही की जाती थी। उसमें चार वर्णो का अस्तित्व तथा उनके परस्पर कर्त्तव्यों का अनतिक्रमण अत्यावश्यक था। समाज के कल्याण के लिए उन सबका साथ साथ चलना आवश्यक था। एक के कुकृत्यों का प्रभाव निश्चित ही दूसरों पर पड़ता था और इस तरह समाज का वर्धन मनुष्य के शारीरिक अंगों के बढ़ाव की तरह अन्योन्याश्रित था। राम जो क्षत्रिय वंशी तथा राजा थे, किसी भी अवस्था में कर्तव्यप्रमाद के लिए क्षमा नहीं किये जा

---

१. वा. रा. युद्ध १३१, ८७ पश्चात्।

सकते थे। जनता को कोई कष्ट होवे तो ऐसा विश्वास था कि वह राजा के पापों का ही फल होता है। इस कारण शासन की चिन्ता में सर्वदा जागरूक रहना पड़ता था।

निष्कर्ष

अन्त में यदि रामायण के आधार पर विचारों का समाहार किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि वाल्मीकि ने एक आदर्श राज्य की कल्पना की है। उस युग की राज्यप्रणाली आज की परिस्थितियों के लिए भी आदर्श हो यह तो नहीं है परन्तु प्राचीन अवस्थाओं में जब राजतंत्र ही विश्व की सबसे मुख्य शासनप्रणाली थी, उस महाकवि की राज्य विधान सम्बन्धी कल्पना अवश्य ही उच्चकोटि की थी। राम के शासन काल में उस कल्पना को मूर्त्त पाकर उन्होंने अपने महाकाव्य द्वारा चिरस्थायीत्व दिया परन्तु रामराज्य की प्रसिद्धि का कारण केवल वाल्मीकि की लेखनी बनी हो, ऐसा नहीं। उन्होंने तो एक ऐतिहासिक सत्य का अंकन मात्र किया। महाकवि भवमूति ने रामराज्य का जो सेवारूप उपस्थित किया है वह चिरस्मरणीय है "स्नेहं दयां च सौख्यञ्च यदिवा जानकीमपि। आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा"।[१]

सचमुच रामराज्य की प्रसिद्धि इतनी चिरस्थायी हुई, इसका कारण तो लोकाराधन था जो किसी भी युग में किसी भी शासन का श्लाघ्य उद्देश्य हो सकता है।

—:०:—

१. उत्तररामचरित

चिड़ियों की उपयोगिता

श्री भृगुनाथ प्रसाद

आकाश में रंग विरंग की चिड़ियों को विचरते देखकर बहुत कम लोग उनकी उपयोगिता पर ध्यान देते होंगे। किन्तु जब हम उनकी उपयोगिता पर विचार करते हैं तो मालूम होता है कि चिड़ियाँ प्रकृति में निरर्थक नहीं हैं और केवल यों ही अपना पेट पालती और आकाश में इधर उधर विचरती नहीं रहती हैं। चिड़ियों का मनुष्य के हित से बहुत गहरा सम्बन्ध है और यदि हम यह कहें कि चिड़ियों के बिना मनुष्य का संसार में अस्तित्व ही न रहे, अत्युक्ति नहीं होगी। मेरा ऐसा कहना स्वप्न-द्रष्टा की तरह अथवा आवेश में आकर नहीं है; बल्कि यह उन वैज्ञानिकों का कथन है जो बड़ी ही कठिनाई और परिश्रम की खोज द्वारा इस परिणाम पर पहुँचे हैं। माइकलेट ने कहा है :

"If it were not for birds no human being could live upon the earth, for insects upon which birds live would destroy all vegetations."

एक दूसरे ग्रन्थकर्त्ता ने 'फारेस्ट ऐन्ड स्ट्रीम' (Forest and Stream) नामक पुस्तक में लिखा है: "If the brids were all destroyed, agriculture in United States would instantly cease."

इस विषय के प्रसिद्ध विद्वान फारबुश (Forbush) ने कहा है: "An acquaintance with useful birds of the farm is as important to the farmer as is a knowledge of the insect pests which attack his crops...... Were the natural enemies of forest insects annihilated, every tree in our woods be threatened with destruction, and man would be powerless to prevent it".

श्री डब्लू० एस० वेरीज ने अपनी पुस्तक 'आल एबाउट बर्ड्स' (All About Birds) की भूमिका में लिखा है: 'सचमुच ऐसा कहना अत्युक्ति नहीं है कि यदि ये चिड़ियाँ क्षति पहुँचाने वाले असंख्य प्रकार के कीड़े-मकोड़ों की संतति वृद्धि रोकने का उपयोगी कार्य नहीं करतीं तो हम लोगों का दुनियाँ में रहना कठिन हो जाता।' (अंग्रेजी का अनुवाद)

श्री जूलियन हक्सले ने अपनी पुस्तक 'बर्ड्स वाचिंग एण्ड बर्ड्स बिहेवियर' (Birds Watching And Birds Behaviour) में लिखा है:—

"........Remove every bird in the world at one stroke; the biological balance would be tilted, and it would be much harder even than now to protect man's crops and trees from the ravage

of their persistent insect consumers. Birds in fact are one of the few groups of animals whose activities as a whole are useful to man."

अतएव स्पष्ट है कि चिड़ियों का अस्तित्व हमारे लिये अत्यन्त आवश्यक है।

चिड़ियों द्वारा कीड़े-मकोड़ों का भक्षण तथा पौधों और फसलों की रक्षा

डार्विन के जीवन-संघर्ष के सिद्धान्त के आधार पर प्रकृति के अंदर जितनी श्रेणी के प्राणी हैं यदि उन सबों में से केवल किसी एक श्रेणी (Species) को जनन-वृद्धि के लिये मनमाने छोड़ दिया जाय तो कुछ पीढ़ी (Generation) चल कर सारी पृथ्वी केवल उसी श्रेणी के प्राणी से आच्छादित हो जाय और अन्य प्राणियों के लिये पृथ्वी के ऊपर तिल मात्र स्थान खाली न रहे। किन्तु प्रकृति के अन्दर ऐसी बात होने नहीं पाती क्योंकि पृथ्वी के सम्पूर्ण प्राणीमात्र में अपने अपने अस्तित्व के लिये, भोजन तथा स्थान के लिये, दिन-रात आपस में संघर्ष चलता रहता है। इस जीवन-संघर्ष के कारण बहुत से प्राणी खेत आते रहते हैं और किसी एक प्राणी की संख्या में एकाएक अधिक वृद्धि नहीं हो पाती। फलस्वरूप एक प्रकार का प्राकृतिक संतुलन (Balance of Nature) बना रहता है। उदाहरण के लिये, कीड़े-मकोड़ों की संख्या वृद्धि इतनी तीव्र गति से होती है कि अगर सभी जीवित रह पायें और वे फिर जनन करें तो कुछ ही पीढ़ी में उनकी संख्या इतनी अधिक हो जाय कि मनुष्यों की बात ही क्या किसी भी अन्य प्राणी का पृथ्वी पर रहना कठिन हो जाय। मरें (Murray) के गणनानुसार एक घरेलू मक्खी (Housefly) जितने अंड़े देती है और उनमें से प्रति १२ अंड़ों में से यदि केवल एक अंडा विकसित हो तो केवल पाँच महीनों में (१० अप्रील से १० सितम्बर के अन्दर) उनकी संख्या ७,६००,०००,००० हो जाय।

इसी प्रकार कालिंग (Collinge) के गणनानुसार हौप-एफिस (Hop-aphis) के जितने अंडे उत्पन्न होते हैं और उनसे जितने बच्चे पैदा होते हैं यदि वे सभी जीवित रहें तो प्रत्येक मादा से एक साल के अन्दर उसकी बारह पीढ़ियों में उनकी संख्या १०,०००,०००,०००,०००,०००,०००,०००, हो जाय। एक साल में इनकी १३ पीढ़ी (Generation) होती हैं। किन्तु खुशी तो इस बात की है कि कीड़ों की संख्या में मनमानी वृद्धि नहीं होने पाती और न उनका उत्पात ही अधिक होने पाता है। नहीं तो कीड़ों द्वारा फसल इत्यादि की इतनी अधिक क्षति हो जाय कि हमें जीवन रक्षा के लिए खाने-पीने की वस्तुएं मिलनी दुस्तर हो जाँय और हमारा पृथ्वी से अस्तित्व लुप्त हो जाय। कीड़ों की संख्या वृद्धि नियन्त्रण के लिये हम आकाश विहारी चिड़ियों के बहुत ही आभारी हैं। कीट भक्षी चिड़ियां दिन-रात इन कीड़े-मकोड़ों का अधिकाधिक संख्या में भक्षण करती रहती हैं और इस प्रकार इनकी संख्या में वृद्धि नहीं होने पाती।

उटाह (Utah, U. S. A.) के प्रारम्भिक इतिहास में चिड़ियों तथा झींगुर के पारस्परिक सम्बन्ध का सम्भवतः, सबसे बढ़िया उल्लेख पाया जाता है। साल्टलेक वैली

(Salt Lake Valley) में झींगुर का दल एक फसल को नष्ट करके दूसरी फसल की ओर तेजी से अग्रसर हो रहा था। यदि वह इसे भी नष्ट करने में सफल हो गया होता तो परिणाम वह होता कि बाह्य दुनिया से आवागमन तथा ढुलाई की सुविधा से वंचित नागरिक बहुत ही भयंकर दुर्भिक्ष के क्लेश में पड़ जाते। किन्तु ईश्वरेच्छा से ऐसा होने में अभी देर थी कि गल्स (Gulls—एक प्रकार की समुद्री चिड़िया) सैकड़ों तथा हजारों की संख्या में वहाँ पहुँच गयीं तथा झिंगुरों का सत्यानाश कर डाला। इस प्रकार चिड़ियों ने फसल की रक्षा कर नागरिकों को भूखों मरने से बचा लिया। नागरिकों ने इस घटना को ईश्वर का एक अपूर्व व्यवधान समझा। अतएव गल्स चिड़ियों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने तथा उपरोक्त घटना को स्मरणीय बनाने के हेतु उन लोगों ने बहुत बड़ी लागत से गल्स चिड़िया का एक स्मारक बना रक्खा है।

कीड़ों के स्वभाव तथा भोजन इत्यादि का अध्ययन करे तो मालूम होगा कि भिन्न प्रकार के कीड़े पेड़ पौधों तथा कृषि को भिन्न प्रकार से क्षति पहुँचाते हैं। कुछ कीड़े पेड़ पौधों की जड़ को, कुछ उनके धड़ तथा टहनियों को, कुछ छिलकों को तथा कुछ उनके फूल, फल और पत्तियों को खाकर उन्हें क्षति पहुँचाते हैं। इन कीड़ों का स्वभाव भी एक समान नहीं होता। कुछ गगन-विहारी होते हैं तो कुछ पेड़-पौधों के निवासी। कुछ सूखे पत्तों में छिपे रहने वाले होते हैं और कुछ जल में वास करने वाले। किन्तु इन दुष्टों का सामना करने के लिये चिड़ियाँ भी एक प्रकार के स्वभाव वाली नहीं होती हैं। इनकी भी जातियाँ और आदतें इतनी भिन्न होती हैं कि किसी प्रकार से भी क्षति पहुँचानें वाले कीड़े इनसे बच नहीं पाते। अबाबील या बतासी (Swallows), भुजंगा अथवा कोतवाल (King Crow), पतेना (Bee-eater), पिद्दा (Bushchat), मछमरनी(Flycatcher), शाहबुलबुल (Night-hawks), दुर्बल-चटक (Swifts), चटी (Martins), वाक, नीलकंठ आदि चिड़ियाँ हवा मे उड़ने वाले कीड़ों का शिकार कर लेती हैं। मछमरनी (Flycatcher) तो मानों आकाश में ही दृष्टि जमाये रहती हैं और उड़ने वाले कीड़ों को झपट्टे मारकर हवा में ही पकड़ लेती है।

हवा में उड़ने वाले कीड़ों के अतिरिक्त जो कीड़े जंगल झाड़ो तथा पेड़-पौधों पर रहते हैं उन्हें खंजन (Waigtail), रामगगरा (Tits), सिलिन्ध्री (Nuthalches), दंहगल (Magpie Robin), थरथर कपनी (Red Starl), नीलकंठ (Blue Jay), पतेना (Bee-eater), पपीहा, पीलक या पिपल्ला, फुदकी या दरजिन (Oriole), महोख (Crow Pheasant), मैना (Myna), लहटोरा (Shrike), हुदहुद (Hoopoe), फुदकी (Warblers), इत्यादि भक्ष कर जाती हैं। कठफोरिया (Woodpecker) चिड़िया पेड़-पौधों की टहनियों की छाल की परीक्षा करती रहती है और उनमें छिपे कीड़ों को अपनी लम्बी, पतली चोंच द्वारा खोज खोज कर समूल नष्ट करती रहती है। दूसरी तरफ मैनी, भुजंगा आदि चिड़ियाँ पत्ते, फूल तथा फल को नुकसान पहुँचाने वाले कीड़ों को खोज खोज कर उन्हें शिकार बनाती रहती हैं। सतवहिनी अथवा चर्खी (Seven Sisters) चिड़िया दिनभर पाँच सात की झुण्ड में पेड़ के नीचे गिरे सूखे पत्तों में छिपे कीड़ों का भक्षण करने में लगी रहती है।

चरते हुए मवेशियों की बगल में बगुले (Egret) तथा भुजंगे (King Crow) को चलते हुए अथवा उनके ऊपर सवार बहुतों ने देखा होगा। ये चिड़ियां चरने वाले मवेशियों के पैर से निकल भागने वाले क़ीड़ों का शिकार करती रहती हैं। इसी प्रकार हल चलते समय हल के पीछे पीछे कौए को भी बहुतों ने देखा होगा। ये कौए यों हीं हलवाहे का पीछा नहीं करते हैं, बल्कि हल के चलने से जमीन के बाहर आने वाले कीड़ों को पकड़ कर खाने के लिये ही ऐसा करते हैं।

खरगोश, गिलहरी तथा चूहों का भी दुश्मनः चिड़ियाँ

केवल कीड़े-मकोड़े ही हमारे खेतों तथा बाग-बगीचों को क्षति नहीं पहुँचाते हैं, बल्कि खरगोश, गिलहरी, तथा चूहे भी फसलों तथा खलिहानों के कम दुश्मन नहीं होते। इनसे रक्षा के लिये हम बाज़ (Hawks), चील (Kite), कौए Crows), तथा उल्लूओं (Owl) के कम आभारी नहीं हैं। ये चिड़ियाँ क्षति पहुँचाने वाले इन जानवरों का शिकार कर इनकी क्षति से हमें त्राण पहुँचाती हैं।

जंगली घास के बीजों का संहार

बहुत से फालतू घास के बीजों को नष्ट करने का श्रेय हमें चिड़ियों को ही देना पड़ेगा। चिड़ियाँ घास के बीजों को चूंग कर खा जाती हैं जिससे जंगली घासों की वृद्धि नहीं होने पाती। प्रोफेसर एफ०इ०एल० बिल के गणनानुसार आईओवा (Iowa) में केवल एक ऋतु में गौरैया (Tree Sparrow) आठ सौ पचहत्तर टन घास के बीज खाती है।

भंगी जाति की चिड़ियाँ

मृत व्यक्तियों के शव को तो हम जला देते हैं अथवा मिट्टी में दफ़ना देते हैं; किन्तु प्रकृति के बहुत से जानवरों के शव के ऊपर हम ध्यान नहीं देते। इनके सड़ने से वायु गन्दी हो जाती और बीमारी का भय उत्पन्न हो जाता है। किन्तु चिड़ियाँ ही हमें इस भय से बचाती हैं। मरे हुए जानवरों को गिद्ध (Vulture), चील (Kite), बाज़ (Hawks), कौए (Crow), इत्यादि भक्ष कर वायुमण्डल को शुद्ध रखते हैं। इस प्रकार की सेवा के लिये हम भंगी जाति की चिड़ियों के कम आभारी नहीं हैं।

चिड़ियों से मांस और अंडा

आज से कुछ वर्ष पूर्व हमारे देश में दूध, दही, मक्खन, मलाई काफी परिमाण में मिलते थे। भोजन की समस्या उतनी पेंचीदी नहीं थी जितनी आज है। विशेष खोजों के बाद पता चला है कि जैसे-तैसे खाकर पेट भर लेने से हम किसी तरह जीवन धारण तो कर सकते है, परन्तु पुष्ट और सन्तुलित भोजन के अभाव से पर्याप्त पोषण नहीं प्राप्त कर सकते। हमारी आयु क्षीण होती जा रही है। मांस में पक्षियों का मांस उत्तम पाया गया है। अंडे में काफी पोषण पदार्थ पाया जाता है। अतएव स्वास्थ्य के लिये भी चिड़ियाँ कम उपयोगी नहीं हैं। परन्तु हम हर प्रकार की चिड़ियों को भोजन

७

के रूप में खा जांय तब हमें क्षति उठानी पड़ेगी। मांस इत्यादि के लिये तितर, बटेर, मुर्गी, बतख तथा टर्की, (Turkey) इत्यादि, ही पाली जाती हैं।

चिड़ियों के पर की उपयोगिता

चिड़ियों के पर की भी उपयोगिता कम नहीं है। वैटमिन्टन के खेल के मैदान में शट्ल काक (Shuttle Cock) को देखिये तो मालूम होगा कि वे चिड़ियों के पर के ही बने हैं। पश्चिमी देशों में औरतें श्रृंगार के लिये हैट (Hat) में पंख लगाती हैं। श्रृंगार के लिये (Birds of Paradise), बगुला (Egrets) लोहचटक (Trogon), लायरवर्ड (Lyrebird), तथा कौक औफ दी रौक (Cock of the Rock) व्यवहार में लाये जाते रहे हैं। मोर के पर का पंखा बिकते और काम में लाये जाते हुए बहुतों ने पाया होगा।

शुतुरमुर्ग (Ostrich) का सवारी के लिये उपयोग

अफ्रिका में शुतुरमुर्ग चिड़िया का सवारी के लिथे उपयोग किया जाता है। यह चिड़िया करीब ५-६ फीट ऊंची होती है और इसकी टांग मोटी और बड़ी ही मजबूत होती है और तेज दौड़ने वाली होती है।

सन्देशवाहक के रूप में चिड़ियों का प्रयोग

हंस द्वारा संदेश पहुँचाने का वर्णन नल-दमयन्ती की कहानी में मिलता है। किन्तु प्रथम महायुद्ध का इतिहास उठाया जाय तो वहां चिड़ियों द्वारा युद्धक्षेत्र से निर्दिष्ट स्थान तक संदेश पहुँचाने तथा युद्ध की गति बदलने और राष्ट्रों के भाग्य निर्णय के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

प्रथम महायुद्ध के समय जब कि युद्ध के मैदान से संदेश-वाहन के सभी साधन जैसे रेल, तार, इत्यादि, शत्रुओं द्वारा काट दिये जाते, युद्ध के मोरचे से प्रधान-कार्यालय (Head Quarter) तक संवाद पहुंचाने के लिये चिड़ियों का ही प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार के संदेश-वाहन का कार्य करने के लिये कबूतर बहुत ही उपयुक्त साबित हुए और होते हैं। कबूतर द्वारा संदेश-वाहन को कोलम्बोग्राम (Colombogram) कहते हैं। युद्धक्षेत्रों में जल, स्थल, तथा हवाई सेनाओं में काम आने वाले 'वाहक सेवा' (Carrier Service) का मूल्यांकन करना असम्भव है। प्रथम महायुद्ध के समय केवल पश्चिमी मोरचे पर ही नहीं वरन् सलोनिका, इटली, इजिप्ट. मोसोपोटामिया तथा अन्य मोरचों पर भी कबूतरों का उपयोग किया गया था। और अनेक अवसरों पर ये कबूतर मनुष्य की भांति धैर्य से संवाद पहुंचाते थे। उस समय संवाद के निर्धारित स्थान तक पहुँचने या न पहुंचने पर जीवन तथा मरण का प्रश्न होता था।

इसी प्रकार के अवसर का जब कि संवाद वाहन के लिये कबूतर का प्रयोग किया गया था रोचक वर्णन मिलता है: मेनीनरोड के युद्धक्षेत्र से ३अक्टूबर, सन् १९१७ ईस्वी को २७०९

नम्बर का कबूतर संदेश के साथ मोरचे से प्रादेशिक प्रधान कार्यालय (Divisional Head Quarter) को रात्रि में १बजकर ३०मिनट पर छोड़ा गया। रास्ते में इसे एक जर्मन गोली लग गई जिससे उसकी जंघास्थि (Tibia) टूट गई। मांस अलग हो गया और पैर में बधा धातु का वेलन जिसमें संदेश पत्र भरा था, शरीर के पार्श्व में हो गया और गोली पश्चात् भाग से निकल गई। किन्तु घाव के होते हुए और सारी रात भीगे रहने पर भी उसने नौ मील की दूरी तय कर दूसरे दिन ४ अक्टूबर को १० बजकर ५३ मिनट पर अपने दरबे (Loft) में पहुँच कर संवाद पहुंचा दिया। संवाद पहुंचाने के थोड़ी ही देर बाद उसकी मृत्यु हो गई। आज भी वह कबूतर 'रायल यूनाइटेड सर्विस इन्सटीट्यूशन, ह्वाईट हाल' (Royal United Service Institution, White Hall) के अजायब घर में शीशे के डिब्बे में सुरक्षित रक्खा हुआ है। और उसपर निम्न वाक्य लिखा हुआ है "संग्राम के घाव से मरा"। जो कार्य उक्त चिड़िया ने किया वही यदि किसी मनुष्य द्वारा किया गया होता तो निसन्देह विक्टोरिया क्रास मिला होता।

इस प्रकार के अनेक उदाहरण वर्तमान हैं जहा पर चिड़ियों ने युद्ध के मोरचे पर बड़े ही उपयोगी तथा बहादुरी के कार्य किये हैं।

यहां पर ता० २६ दिसम्बर, १९५२ तथा ३ जनवरी, १९५३ के हिन्दुस्तान टाइम्स की कटिंग्स (Cuttings) पढ़िये :—

U. S. PIGEON POST

["Observer" Service]

Washington, Dec. 25.—America in the imagination of most Europeans is the land where science has made all things not only possible but extermely convenient. Yet, how about the wife of a rancher near San Diego?

Her son was smitten with an acute appendicitis. As soon as a doctor arrived out at the remote ranch in the car that had been sent to fetch him the boy was hurried off to the nearest hospital several miles away. The rancher was out tending his cattle and did not know how seriously ill his son had become. So his wife took with her to the hospital several homing pigeons which had been bred and trained by her husband. The pigeons flew home at regular intervals to keep the hard-working man informed of how things were going.

PIGEONS TAKE MESSAGE TO QUEEN

London, Jan. 2.—British fishermen on a trawler off the east coast of England yesterday used carrier pigeons to send a message of greetings 100 miles to Queen Elizabeth.

The message was delivered at Sandringham where the Queen and her family are now in residence and was received personally by the Duke of Edinburgh. It had been flown from the 659-ton trawler 'Cape Spartel' as she sailed from Humber for northern fishing grounds—P.T.I.-Reuter.

यह बहुत ही रोचक है कि प्रथम महायुद्ध के समय लड़ाई के प्रारम्भ में आइफेलटावर (Eiffel Tower) पर सुग्गों का प्रयोग दुश्मन के हवाई आक्रमण की सूचना देने के लिये किया जाता रहा। पहले यह देखा गया कि मनुष्य जब तक हवाई जहाज की आवाज सुनते या हवाई जहाज देखते और पहचानते उसके २० मिनट पूर्व ही सुग्गे उसकी सूचना दे देते। किन्तु इन्हें इस प्रकार शिक्षित नहीं किया जा सका कि ये जर्मन और फ्रेंच हवाई जहाजों में अन्तर पहचान सकें। अतः अन्त में ये अन्यमनस्क हो गये और विश्वसनीय नहीं हो सके।

यह तो भलीभाँति विदित है कि केनरी चिड़िया विषैले गैस के प्रति, मनुष्य से पन्द्रह गुणा संज्ञानशील होती है। अतएव सुरंग बिछाते समय अथवा सुरंग बिछाने के लिये छान बीन करते समय वायुमण्डल की हालत की जांच के लिये इनका प्रयोग किया जाता है। सरकारी सुरंग समिति ने यह सिफारिश की कि सुरक्षास्थल (Rescue Stations) पर कार्बन मोनक्साइड (Carbon Monoxide) गैस की परीक्षा के लिये दो तीन चिड़ियाँ रक्खी जांय। एक बार तो पश्चिमी मोरचे पर जंगली केनरी चिड़ियों के आचरण से खाइयों में रहने वाले सैनिकों को रात्रि में विषैले गैस की सूचना मिल गई थी। खाई में गैस के पहुँचने के पहले ही चिड़ियों की चहचहाहट से, जिन्हें विषैले गैस का आभास मिल गया था, सभी सैनिक सचेत हो गये और अपनी रक्षा का प्रबंध कर लिया।

सुरंग बिछाने के समय जमीन के अन्दर की गैस का पता लगाने के लिये जर्मन तथा अंग्रेज दोनों ही केनरी चिड़िया का उपयोग करते थे। अनेक अवसरों पर सैनिकों को गैस परीक्षा के लिये दी गयी केनरी चिड़िया बहुत ही प्यारी हो गई थी जिससे वे उन्हें सुरक्षित स्थान में रखा करते थे।

केनरी चिड़ियों की उपयोगिता का प्रदर्शन १ जून, सन् १९१८ की साउथ इस्टर्न सांयटिफिक सोसायटी के कांग्रेस सदस्यों के समक्ष किया गया था। इस अवसर पर एक मनुष्य और पिंजड़े में बंद एक चिड़िया को विषैले गैस की कोठरी में रक्खा गया। किन्तु जब तक मनुष्य पर विष का प्रभाव पड़े उसके बहुत पूर्व ही चिड़िया बेहोश हो गई। इससे

यह साबित किया गया कि मनुष्य की अपेक्षा केनरी चिड़िया विषैले गैस के प्रति बहुत ही अधिक संज्ञानशील (Sensitive) होती है।

चिड़ियाँ तथा हमारा मनोरञ्जन

शुद्ध आर्थिक दृष्टि से नहीं वरन नैतिक, कलात्मक, तथा मनोरञ्जन की दृष्टि से भी चिड़ियों की उपयोगिता कम नहीं। चिड़ियों की मधुर बोली और सुन्दरता से हम अपना मनोरञ्जन करते हैं।

"Beauty of every sort is good for the human soul, and he who fails to respond to its call loses much of the richness of life."

"If eyes were made for seeing
Then beauty has its own excuse for being."
—Emerson.

Birds have been the impression of much that is fine in arts, poetry, and song. The world would be impoverished indeed, if it were all destroyed. So, too, we should lose much if the chastening songs of birds were all hushed and their plumages turned to ashes.

शामा, बुलबुल, पपीहा, मोर, चातक, कोयल, इत्यादि, मधुर गानेवाली चिड़ियों ने कवियों, नायक, और नायिकाओं को आदिकाल से प्रेरणा प्रदान की है और कवियों ने विरह तथा हर्ष दोनों ही प्रकार के गीत लिखे तथा गाये हैं। नायक नायिकाओं ने विरह की घड़ियों में इन पक्षियों की बोली में अपने प्रेमी को ढूंढ़ा है और सांत्वना पायी है।

कोकिलन खोजिन कौ संग लै अनेक फिरै,
चारों ओर प्यारी, विरही जन के खोज कौ।
याते हौं कहति चलु प्यारे सुखदान पास, तजि कै अयान दूर कैरी मान सोज कौ।
—मानदेव

आयौ री! वसंत कूकि क्वैलिया पुकारै लगीं,
हमंसी गरीबन कौ गात गारि डारेंगी।
मंद-मंद माहत सुगंध लागी, ज्वाल कों जगाई कै जरूर जारि डारेंगी।
—नंदराम

आई रितु पावस 'प्रताप' घरनघोर भरी
सघन हरी री बन मंडन बढ़ाए री।

कोकिल-कपोत-सुक चातक-चकोर मोर,
ठौर-ठौर कुंजन में पक्षी सब छाए री।
यमुना के गुल, और कदंबन की डारन पै,
चारो ओर घोर सोर मोरन मचाए री।
एरी मेरी बीर! अब कैसे कै मैं धीर धरौं,
आए घन स्याम, घनस्याम नहीं आए री॥

—प्रताप

यह जानकर बहुत ही संतोष होगा कि एम्बुलेंस गाड़ियों में घायल सैनिकों के मनोरञ्जन के लिये केनरी चिड़ियों का उपयोग हो गया है। (Sporting & Dramatic News, 8, VIII, 18)

भारत के मुगल सम्राटों को पक्षी पालने का बहुत बड़ा शौक था। अकबर ने तो बहुत सी चिड़ियाशालाएं तथा चिड़ियाघर बनवा रक्खे थे जिनमें अनेकों प्रकार की चिड़ियां तथा कबूतर थे। मुसलमान खिलाड़ी तथा लड़ाकू चिड़ियों को बहुत ही महत्व देते थे। ऐसी चिड़ियों में तोता बटेर, मूर्गे तथा बुलबुल बहुत ही प्रसिद्ध हैं। बनारस और लखनऊ में आज भी जगह जगह तोता और बटेर की लड़ाई होती है जहां दर्शकों की अच्छी भीड़ होती है।

पिंजड़ों में चिड़ियों के पालन की चलन बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। पिंजड़े में पाली जानेवाली चिड़ियों की सूची में लालमुनियां या तेलियामुनिया, बुलबुल, तोता, मैना, आदि, विशेष उल्लेखनीय हैं। वैदिक साहित्य में बातचीत करने वाली चिड़ियाँ मैना और तोता का अनेक उल्लेख पाया जाता है। तोता बहुत ही प्यारा होता था और कबूतर घरों के लिये शुभ माना जाता रहा। भारत पर सिकन्दर के आक्रमण के समय पिञ्जड़ों में सुग्गे और तोते पाले जाने का वर्णन मिलता है। सिकन्दर यहां से बहुत से वलयी ग्रीवाशुक (Ring-necked Parrots) ले गया था। आज भी इन सुग्गों का नाम एलेक्जेन्ड्राइन पाराकीट्स (Alexandrine Parakeets) है।

मनुष्यों की बोली की नकल करने के कारण सुग्गों का बहुत ही आदर था तथा वे पवित्र माने जाते थे। इसलिये हिन्दू उन्हें मारते या बंदी नहीं बनाते थे।

चौथी शताब्दी के एक संस्कृत नाटक मृच्छकटिक (Mrichchhakatika) में पक्षीशालाओं में चिड़ियों के पाले जाने का वर्णन मिलता है।

बाग, मैदान, तथा तड़ागों की शोभा बढ़ाने के लिये प्रायः मोर, सारस, बगुला तथा हंस पाले जाते थे।

एक प्राचीन हिन्दू राजा द्वारा रचित संस्कृत के शकुनिका शास्त्र में पक्षियों का क्रमिक विवरण उनकी आदतों तथा विशेषताओं के साथ है। बंगाली में 'पारिवर कथा'

में चिड़ियों का बहुत ही अच्छा वर्णन है। जगत् प्रसिद्ध संस्कृत कवि कालिदास ने बहुत सी चिड़ियों का वर्णन किया है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के आधार पर यह पाया जाता है कि प्राचीन समय में चिड़ियां न केवल आनन्द तथा शौक के लिये पाली जाती थीं वरन् अनेक कार्यों जैसे संवाद-वाहन, बीमारी से बचने इत्यादि, के लिये भी पाली जाती थीं।

अतएव नीति, ललित कला, तथा शिक्षा की दृष्टि से नहीं वल्कि शुद्ध उपयोगिता तथा आर्थिक दृष्टि से भी सर्वसाधारण द्वारा चिड़ियों के महत्व को स्थान देना बहुत ही आवश्यक है।

अन्त में जूलियन हक्सले के शब्दों में:—

"For and this is my last word in considering the birds' place in Nature we must remember that they have a place in civilization as well as in wild nature and that even if we be busy mechanizing so many aspects of life, or rather, just because we are mechanizing them there is all the more reason to reserve to birds—shy birds as well as tame, rare birds as well as common—a place in our civilized scheme of things, and to see that place is kept for them, and so for our protection and that of our prosperity."

References :—

१. वीड एन्ड डियरवार्न—बर्ड्स इन देयर रिलेशन टु मैन।
२. डब्लू० एस० वेरीज—आल एवाउट बर्ड्स।
३. सत्यचरण ला—पेट बर्ड्स आफ बंगाल।
४. जूलियन हक्सले—बर्ड्स वाचिंग एन्ड बर्ड् बिहेवियर।
५. हेन्डरसन—दि प्रैक्टिकल वैल्यु आफ बर्ड्स।
६. टी० बेनब्रीज फ्लेचर एन्ड सी० एम० इंगलिश—बर्ड्स आफ इंडियन गार्डेन।
७. ह्यूएन्ड ग्लैडस्टोन—बर्ड्स एन्ड दि वार।
८. प्रभुदयाल मित्तल—ब्रज भाषा साहित्य में ऋतु सौन्दर्य।
९. सुरेश सिंह—हमारी चिड़ियां।

बारहमासा

डा० श्री कृष्णलाल

षटऋतु और बारहमासा

षट्ऋतु और बारह मासके रूपमें वर्ष का विभाजन हमारे अति प्राचीन देश में न जाने किस अतीत युग से चला आ रहा है, परंन्तु प्राचीन साहित्य में षट्ऋतु का ही वर्णन मिलता है, बारह मासों का वर्णन उसमें शायद ही कहीं मिल सके। हिन्दी साहित्य में प्राचीन साहित्य के इस अभाव की पूर्ति हुई है। जायसी के 'पद्मावत' में पहले षट्ऋतु-वर्णन खंड है और ठीक उसीके अगले अध्याय नागमती-वियोग खंड में कवि की प्रसिद्ध 'बारहमासा' की रचना है। इस षट्ऋतु-वर्णन और बारहमासा में एक अंतर अत्यंत स्पष्ट है। षट्ऋतु वर्णन में कवि ने जहाँ संयोग ऋृगार की अभिव्यंजना की है, वहाँ बारहमास में उसने विप्रलम्भ श्रृंगार की अभिव्यक्ति की। जायसी के पश्चात् महाकवि केशवदास की 'कविप्रिया' में षट्ऋतु और बारहमासा दोनों का वर्णन उपलब्ध है। परंतु वहाँ जायसी की भाँति संयोग और ऋृगार की अभिव्यक्ति नहीं की गई। 'कविप्रिया' के सातवें प्रभाव में देश, नगर, बन, बाग, गिरि, आश्रम, सरिता, ताल, सूर्योदय और चंद्रोदय के विविध वर्णन के साथ ही षट्ऋतु के वर्णनों के लक्षण और उदाहरण भी कवि ने प्रस्तुत किए हैं। महाकाव्य का लक्षण लिखते हुए प्राचीन आचार्यों ने विविध प्रकार के वर्णनों का विधान रखा है। दंडी ने काव्यादर्श और विश्वनाथ कविराज ने 'साहित्य-दर्पण' में नगर, वन, शैल,, सागर, सूर्योदय और चंद्रोदय आदि के वर्णनों के साथ ही ऋतु-वर्णन को भी महाकाव्यों में आवश्यक माना है। उसी परम्परा के अनुसार केशवदास ने अन्य विविध वर्णनों के साथ षट्ऋतु-वर्णन का भी लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किया। इस प्रसंग में उन्होंने बारहमासा का वर्णन नहीं किया; वरन् कविप्रिया के दशवें प्रभाव में आक्षेप अलंकार के नव भेदों का लक्षण और उदाहरण देते हुए अंतिम भेद शिक्षांक्षेप का लक्षण इसप्रकार लिखा :—

> सुख ही सुख जहूँ राखिये, सिखही सिख सुखदानी।
> शिक्षाक्षेप कहौं बरणि, छप्पय वारहवानि॥

अर्थात् तसल्ली दे देकर समझा बुझाकर अपने प्रियतम को विदेश-गमन के कार्यारम्भ से रोके, वही शिक्षाक्षेप है। इसको उदाहरण-स्वरूप केशवदास ने बारहमासा के ढंग पर बारह छप्पय कहे हैं। प्रत्येक मास का उद्दीपन विभाव के रूप में प्रकृति-वर्णन करके अंत में नायिका कहती है कि हे प्रिय, इस मास में विदेश-गमन का विचार भी न करना चाहिए। केशव के षट्ऋतु-वर्णन और बारहमासा-वर्णन में अंतर स्पष्ट है—षट्ऋतु-वर्णन में जहाँ प्रकृति आलम्बन विभाव के रूप में है वहाँ बारहमासा में वह उद्दीपन विभाव के रूप में वर्णित है। केशवदास ने काव्य-शास्त्र के निरूपण में जहाँ दंडी तथा अन्य प्राचीन आचार्यों का अनुसरण किया वहाँ उन्होंने बारहमासा की स्वतंत्र उद्भावना की।

केशवदास के पश्चात् सेनापति ने भी षट्ऋतु-वर्णन के साथ ही साथ बारहमासा का वर्णन किया। कवित्त-रत्नाकर की तीसरी तरंग ऋतु-वर्णन में कवि ने एक एक ऋतु पर

कवित्त लिखकर ऋतु-विशेष के दो मासों पर अलग अलग कवित्त भी लिखें हैं। अस्तु, शरद ऋतु का वर्णन करते हुए कवि पहले लिखता है :—

पाउस निकांस तातैं पायौ अवकास, भयो
जोन्ह कौं प्रकास, सोभा ससि रमनीय कौं।
बिमल अकास, होत बारिज विकास, सेना–
पति फूले कांस हित हंसन के हीय कौं।
छिति न गरद, मानौं रँगे हैं हरद, सालि
सोहत जरद, को मिलावै हरि पीव कौं।
मत्त हैं दुरद, मिट्यौ खंजन-दरद, रितु
आई है सरद सुखदाई सब जीव कौं॥ (कवित्त रत्नाकर; तीसरी तरंग; कवित्त संख्या ३७, पृ०६५)

इसके आगे कवि क्वार मास का वर्णन करता है :—

खंड खंड सब दिग-मंडल जलद सेत,
सेनापति मानौं सृंग फटिक पहार के।
अंवर आडंवर सौं उमड़ि घुमड़ि, छिन
छिछकैं छछारे छिति अधिक उछार के।
सलिल सहल, मानौं सुधा के महल, नभ
तूल के पहल, किधौं पवन अधार के।
पूरब कौं भाजत हैं, रजत से राजत हैं।
गग गग गाजत गगन घन क्वार के॥ (वही, कवित्त संख्या ३८, पृ० ६६)

और फिर कातिक मास का वर्णन कवि करता है :—

कातिक की राति थोरी थोरी सियराति,
सेनापति है सुहाति, सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानौं मोती अनगन हैं।
उदित बिमल चंद, चाँदनी छिटकि रही,
राम कैसो जस अध ऊरध गगन है।
तिमिर हरन भयो, सेत है बरन सब,
मानहु जगत छोर सागर मगन है॥ (वही, कवित्त संख्या ४०, पृ० ६६)

इस प्रकार कवि ने षट्ऋतु और बारहमासा का वर्णन एक साथ ही किया और दोनों में प्रकृति का एक ही सा वर्णन किया; आलम्बन विभाव के रूप में।

सेनापति और केशवदास ने षट्ऋतु-वर्णन में जहाँ अधिकांश परम्परा का पालन किया, वहां बारहमासा के वर्णनों में यथार्थ चित्रण की प्रवृत्ति से नवीन उद्भावनाएँ भी कीं। केशव की 'कविप्रिया' के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। शरद ऋतु का लक्षण लिखते हुए केशव ने जहाँ लिखा है,

अमल अकास, प्रकास ससि, मुदित कमलकुल कांस।
पंथी पितर पयान नृप शरद सुकेशवदास ॥

वहाँ बारहमासा के आश्विन और कार्तिक मास के वर्णन में कवि ने मास-विशेष के जीवन-जगत पर भी दृष्टि डाली है। देखिए आश्विन मास में नायिका अपने प्रियतम से कहती है :—

प्रथम पिंड हित प्रगट पितर पावन घर आवैं।
नव दुर्गा नर पूजि स्वर्ग अपवर्गहुँ पावैं।
छत्रनि दै छितिपतिहु लेत भुव लै सँग पंडित।
केशवदास अकास अमल जल जल्पजनि मंडित॥
रमणीय रजनि, रजनीश रुचि, रमारमन हू रासरति।
कल केलि कल्पतरु क्वार महँ, कंत न करहु विदेस मति॥

इसी प्रकार कार्तिक मास मे वह कहती है :—

बन उपवन जल थल अकास दींसत दीपगन।
सुख ही सुख दिन रात जुवा खेलत दंपति गन।
देव चरित्र विचित्र चित्र चित्रित आँगन घर।
जगत जगत जगदीस जोति जगमगत नारि नर।
दिन दान न्हान गुन गान हरि जनम सुफल करि लीजिए
कवि केशवदास विदेशमति कंतन कातिक कीजिए॥

कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के षट्ऋतु-वर्णन में अधिकांश परम्परा का पालन केवल इस कारण है कि इसकी परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही थी। बारहमास की कोई प्राचीन परम्परा नहीं थी; इस कारण इसके वर्णन में कवियों ने कधिकतर नवीन उद्भावनाएँ कीं। ठीक है, इस बात को किसी प्रकार अस्वीकार नहीं किया जा सकता, परंतु बारहमासा के वर्णनों से षट्ऋतु-वर्णन की एक बहुत बड़ी दुर्बलता अत्यंत स्पष्ट हो गई, जिसके कारण षट्ऋतु-वर्णन करने वालों को अधिकांश परम्परा का पालन करने के लिए विवश होना पड़ता था। ऋतुओं का कब, किसने और किस स्थान पर विभाजन किया यह तो निर्विवाद रूप से नहीं कहा जा सकता परंतु हिन्दी प्रांतों में षट्-ऋतुओं की परंपरा के अनुसार ऋतुएँ देखने को नहीं मिलतीं। उदाहरण के लिए वसंत ऋतु को लीजिए। परम्परा के अनुसार चैत्र और वैशाख मास वसंत के अंतर्गत आते हैं। एक तो चांद्र मास होने के कारण इन महीनों की स्थिति प्रत्येक वर्ष घटती बढ़ती रहती है, फिर भी इन दो मासों की अवधि लगभग १५ मार्च से १५ मई तक मानी जा सकती है। अब परंपरा के अनुसार वसंत ऋतु १५ मई तक मानी जानी चाहिए, परंतु मई के प्रारम्भ से ही जैसी भीषण गर्मी और लू चलन लगती है, उससे उसे वसंत मानना किसी के लिए भी सम्भव नहीं हो सकता। इसी प्रकार परम्परा के अनुसार ग्रीष्म ऋतु ज्येष्ठ आषाढ़ मास का कहा जाता

है। परंतु ग्रीष्म ऋतु के इन दो मासों में कितना अंतर है, इसे सेनापति के शब्दों में सुनिए वे ग्रीष्म ऋतु के ज्येष्ठ मास का वर्णन करते हैं :—

सेनापति तपन तपति उतपति तैसो,
छायौ उत पति, तातें बिरह बरत है।
लुवन की लपटें ते चहुँ ओर लपटें, मै
ओढ़े सलिल पटै न चैन उपजत है।
गगन गरद धूँधि, दसौ दिसा रही रूंधि,
मानौं नभ भार की भसम बरसत है।
बरनि बताई, छिति व्योम की तताई जेठ
आयौ आतताई पुटपाक सौं करत है।। (कवित्त रत्नाकर; तीसरी तरंग; कवित्त संख्या १५ पृ० ५९)

फिर वे आषाढ़ मास का वर्णन करते है :—

ग्रीषम तपति हर, प्यारे नव जलधर,
सेनापति सुखकर जे हैं दपंतीन कौं।
भुव तरवर जीव सजत सकल घर,
धरत कदम तरु कोमल कलीन कौं।
सुनि घनघोर मोर कूकि उठें चहुँ ओर,
दादुर करत सोर भोर जामिनीन कौ।
काम धरे बाढ़ तरवारी, तीर, जम डाढ़,
आवत आसाढ़ परी गाढ़ बिरहीन कौं।। (वही, कवित्त संख्या २१, पृ० ६९)

ऐसे दो विरोधी लक्षणों से युक्त मासों का जब सम्मिलित वर्णन ग्रीष्म ऋतु के रूप में करना पड़ता है तब ज्येष्ठ के वर्णन को ही ग्रीष्म ऋंतु का वर्णन मान लेना पड़ता है क्योंकि परंपरा के अनुसार ग्रीष्म ऋतु प्रचंड गर्मी का ऋतु है। सेनापति ग्रीष्म का वर्णन करते हुए जब लिखते हैं,

सेनापति ऊँचे दिनकर के चलति लुवैं।
नद नदी कुवैं कोपि डारत सुखाइ कै।
चलत पवन, मुरझात उपवन बन,
लाग्यो है तपन डारयौ भूतलौ तपाइ कै।
भीषम तपत रितु ग्रीषम सकुचि तातै।
सरिक छिपी है तहखानन मैं जाइ कै।
मानौं सीतकाल, सीतलता के जमाइबे कौं।
राखे हैं बिरंचि बीज धरा मैं धराइ कै।। (वही, कवित्त संख्या १२, पृ० ५८)

तब इस वर्णन को परंपरा-पालन के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है। सम्भवतः

सेनापति को भी परंपरा-गत ग्रीष्म ऋतु-वर्णन से संतोष नहीं हुआ और उन्होंने एक कवित्त ग्रीष्म ऋतु का यथार्थवर्णन करते हुए भी लिखा जो इस प्रकार है :—

तपै इत जेठ जंग जात हैं जरनि जरचो
ताप की तरनी मानौं मरनि करत है।
दूतहिं आसाढ़ उठै नूतन सघन घटा,
सीतल समीर हिय धीरत धरत है।
आधे अंग ज्वालन के जाल विकराल, आधे
सीतल सुभग मोह हीतल भरत है।
सेनापति ग्रीषम तपत ऋतु भीषम हैं
मानौं बड़वानल सौं बारिधि बरत है।। (कवित्त रत्नाकर; तीसरी तरंग; कवित्त संख्या १६, पृ० ५९)

ग्रीष्म ऋतु जैसी स्थिति शिशिर ऋतु की भी है। माघ और फाल्गुन मास शिशिर ऋतु के अंतर्गत माने गए हैं। परंतु साधारणतः माघ शुक्ल पंचमी से ही वसंत का प्रारम्भ माना जाता है और जन साधरणा के बीच फाल्गुन मास ही वसंत का सच्चा प्रतीक है। परंपरा और यथार्थ वस्तुस्थिति की इस असंगति का कारण परंपरा प्रारम्भ करने वालों की यथार्थ के प्रति उपेक्षा या अवहेलना नहीं थी, वरन् यह असंगति बहुत कुछ देशकाल के कारण उपस्थित हुई जान पड़ती है। षट-ऋतुओं का विभाजन और नामकरण सम्भवतः उस समय किया गया था जब हम लोंगों के पूर्वज आर्य सप्तसिंधु के निवासी थें। वहाँ आज भी इन ऋतुओं की संगति दिखाई पड़ सकती है। परंतु ज्यों ज्यों आर्यगण पूर्व और दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़ते गये त्यों त्यों ऋतुओं की भी स्थिति में असंगति दिखाई पड़ने लगी। तब भी षट-ऋतु ज्यों के त्यों बने रहे और इसी कारण परंपरा और यथार्थ वस्तुस्थिति में अंतर बढ़ता गया। उदाहरण के लिए परंपरा से पावस ऋतु, सावन और भादौं, इन दो मासों का माना जाता है, परंतु मिथिला में ज्येष्ठ मास में ही पहला पानी पड़ जाता है। अस्तु, वहाँ पावस ऋतु का प्रारम्भ ज्येष्ठ मास से ही मानना उचित होगा। श्री कालीकुमार दास द्वारा सम्पादित मैथिली-गीतांजलि में 'पावस' शीर्षक एक गीत है। जिसमें जेठ, अषाढ़, सावन और भादौं चार महिनों का वर्णन किया गया है। गीत इस प्रकार है :—

पावस परम उछाट सघन घन आयल रे।
प्यारे, नयनक रस गरिँ खंसल सरोज[1] सुखायल रे।
अभरन जत छल झामर, पति मोर पामर रे,
प्यारे, चिकुर बनल शतनाग करथि तन सामर रे।
से दिन सुमिरन आवथ सेज ने[2] भावन रे
प्यारे, करतल बदन समेटि पल कानय[3] रे।।
जेठ हेठ नव ब्रादर युवतिक आदर रे,
प्यारे, दछिन पवन बहु मंद करथि अति कातर रे।।

[1] मुख, कर, चरण आदि [2] नहीं [3] क्रंदन करती है।

मास आषाढ़क बारिस मदरस पाटत रे,
प्यारे, हृदयक दल हुहु फाटत शशिकर काटत रे।
साओन परम भयाउन कठिन मिलाओने रे,
प्यारे, एकसरि रुदन अटारि कठिन निशि साओन रे।
भादव आयल मादक दादुर बाहक रे,
प्यारे, दिशि दिशि रवथि मयूर, बिरह तन बाढ़त रे॥ (गीत संख्या १७५, पृ० १२०-१२१)

अस्तु, मिथिला प्रांतमें ज्येष्ठ और आषाढ़ को ग्रीष्म ऋतु कौन मान सकता है। फिर भी परंपरा का इतना प्रभाव है कि प्रायः सभी स्थान में षट्-ऋतु का वर्णन साधारणतः एक ढंग से किया जाता है। इसी कारण हिन्दी में षट्ऋतु-वर्णन अधिकांश परंपरागत होने से वस्तु-स्थिति से बहुत दूर रह जाता है, किन्तु बारहमासा यथार्थवादी चित्रण करने के कारण अधिक स्वाभाविक और चित्ताकर्षक बन पड़ा है।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी ऋतु-वर्णन की इस असंगति का कुछ आभास मिल सकता है। मेघदूत में कालिदास ने 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे मेघमाश्लिष्ट सानुं' लिखकर आषाढ़ में ही पावस ऋतु का प्रारम्भ दिखा दिया। परंतु बाद में जब लक्षण ग्रंथों का प्राधान्य हुआ तब, परंपरा-पालन की ओर ही कवियों का ध्यान अधिक रहा, यथार्थ-चित्रण की प्रवृत्ति उनमें कम होती गई। परंतु बारहमासा का वर्णन देश-काल की बड़ी आवश्यकता के अनुरूप हुआ इसीलिए उसमें यथार्थ-चित्रण की ओर ही कवि की भी दृष्टि रही।

बारहमासा की परम्पराएँ

हिन्दी साहित्य में बारहमासा की चार मुख्य परंपराएँ हैं। सबसे पहली परंपरा संतकाव्य के अंतर्गत दिखाई पड़ती है जिसमें प्रत्येक माह का नाम-निर्देश कर ज्ञान-वैराग्य सम्बंधी उपदेश किए गए हैं। इस प्रकार की रचनाओं में मास-विशेष का यथार्थ-चित्रण या तो रहता ही नहीं, या कहीं रहता भी है तो केवल नाम मात्र को। बन, उपवन में फूलने वाली वनज्योत्स्ना रसाल वृक्ष का अवलम्ब लेकर पल्लवित और पुष्पित होती है, परंतु खेतों में तरकारी की विविध बेलें सूखी टहनियों और डालों का सहारा लेकर ही बढ़ती हैं। ठीक उसी प्रकार संत कवियों के बारहमासा केवल मासों के नाम का अवलम्ब लेकर ही रचे गए। उदाहरण के लिए धरनीदास का बारहमासा देखिए। चैत्र मास से प्रारम्भ कर के अपनी ज्ञान-वेलि प्रकट करते हैं।

दो०—चैत चलहु मन मानि कै, जहँ बसै प्रान पियार।
हिलि मिलि पाँच सहेलरी, पंच-पाँच परिवार॥
छंद—परिवार जोरि बटोरि लीजै, गोरि, खोरि न लाइये।
बहुरि समय सरूप अस नां जानिये कब पाइये॥

इसी प्रकार ज्येष्ठ मास की ज्ञान बेलि का भी निरीक्षण कीजिए, कवि कहता है:—

दो०—जेठ जतन करु कामिनी, जन्म अकारथ जाय।
जोबन गरब भुलाहु जनि, कछु करि लेहु उपाय॥

छंद—करिलेहु कछुक उपाय नहिं दुख पाय फिर पछताइ है।
जब गाँठिको गथनाठि है, तब ढूंढ़ते नहि पाइ है।

उपर्युक्त रचनाओं में चैत्र और ज्येष्ठ मास के जीवन और जगत का लेशमात्र भी आभास नहीं मिलता। चैत्र और जेठ के स्थान पर यदि माघ शब्द रख दिया जाय तो जेठ जतन तथा चैत चलहु में जो अनुप्रास है केवल उसी की क्षति होगी, अर्थ में कुछ भी अंतर नहीं पड़ेगा। ऐसी रचना का नाम बारहमासा क्यों रखा गया यह स्वाभाविक प्रश्न उठ खड़ा होता है। कुछ घास और लताएँ ऐसी होती हैं जो किसी भी वस्तु का सहारा लेकर ऊपर उठ पड़ती हैं। ठीक उसी प्रकार संत कवियों को ज्ञान और वैराग्य के उपदेश की कुछ ऐसी लगन थी कि किसी भी व्याज से वे उपदेश करने लग जाते थे। अस्तु, जनता में प्रचलित बारहमासा को भी उन्होंने अपने उपदेश का माध्यम बनाया। भागवत के अनुकरण में गोस्वामी तुलसीदास ने जिस प्रकार वर्षा और शरदऋतु के वर्णन-व्याज से भक्ति, वैराग्य की शिक्षा दी थी, संत कवियों ने भी उसी प्रकार बारहमासा के व्याज से अपने ज्ञान वैराग्य के उपदेश का मंजूषा खोला। गोस्वामी तुलसीदास ने तब भी 'अर्द्धाली' के एक चरण में प्रकृति-चित्रण, और दूसरे में उपदेश को स्थान दिया। यथा,

सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा।
फूलें कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भए जैसा।

परंतु संत कवियों ने उतना भी प्रकृति-चित्रण करना आवश्यक नहीं समझा और बारहमासा के रूप में अपनी वैराग्य-वृत्ति को ही चरितार्थ किया।

संतकाव्य में बारहमासा की परम्परा जनता में प्रचलित बारहमासा से, अथवा फारसी काव्य के 'अलिफनामा' की परम्परा से प्रभावित हो सकती है अथवा इन दोनों से। फारसी में 'अलिफनामा' की रचना वर्णमाला के प्रत्येक वर्ण से प्रारम्भ कर ज्ञान और प्रेम के उपदेश के लिए होती थी। संत-परम्परा के अनेक संतों ने अलिफनामा की रचना की और उसी के साम्य पर अखरावट तथा ककहरा की परम्परा भी संतकाव्य में चल पड़ी जिसमें नागरी वर्णमाला के वर्णों से प्रारम्भ कर संत कवि उपदेश, चेतावनी और सिद्धांत की बातें कहा करते थे। धरनीदास का, जिनके बारहमासा का ऊपर उल्लेख हो चुका है, अलिफनामा और ककहरा प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने पहाड़ा भी लिखा जिसमें उसी प्रकार ज्ञान वैराग्य की बातें लिखी गई हैं। प्रसिद्धि तो ऐसी है कि कबीर ने भी अलिफनामा और अखरावट की रचना की। जायसी का अखरावट तो प्रसिद्ध ही है जिसमें उन्होंने सूफी सिद्धांत की विवेचना की। सम्भव है अलिफनामा और अखरावट के अनुकरण में बारहमासा की रचना भी संतों ने आरम्भ की होगी। निश्चय रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं है, परंतु अनुमान द्वारा यह बात सम्भावना से परे नहीं जान पढ़ती कि संतों के बारहमासा की परम्परा पर फारसी के अलिफनामा का पर्याप्त प्रभाव पढ़ा था।

संतों की बारहमासा परम्परा में सर्वप्रथम रचना काशी के प्रसिद्ध जुलाहे कबीर की 'बारामासी' मानी जा सकती है यदि यह उन्हीं की रचना हो। डा० रामकुमार वर्मा ने अपने

'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में कबीर के ६१ ग्रंथों[१] का नाम गिनाया है जिनमें चार ग्रंथों के कबीर-रचित होने में उन्हें संदेह है। शेष ५७ ग्रंथों के सम्बंध में उनका मत है, "सम्भव है और ग्रंथ भी कबीरकृत न हों पर उस सम्बंध में अभीतक कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता।"[२] बारामासी कबीर के इन्हीं ५७ ग्रंथों में से एक है जो सम्भवतः कबीर की रचना हो भी सकती है। इस पुस्तक में सब मिलाकर ५० पद्य हैं और उनका विषय ज्ञान है।[३]

इस परम्परा की सबसे विशिष्ट रचना तुलसीदास की बारहमासी है। यह तुलसीदास रामचरित मानस के स्वनामधन्य रचयिता गोस्वामी तुलसीदास ही हैं या उनसे भिन्न कोई अन्य तुलसीदास यह कहना कठिन है। पुस्तक के सम्पादक बिजावर-निवासी पुरुषोत्तम भट्ट इसे मानस के यशस्वी कवि की ही कृति मानते हैं। भूमिका में वे लिखते हैं: "जहाँ तक मैं जानता हूँ यह बारहमासी पहिले कहीं नहीं छपी है, परंतु बुन्देलखंड निवासियों में बहुधा ऐसे सज्जन मिलेंगे जिनको इसकी एक एक कड़ी कंठस्थ हैं"। इसी के साथ ही प्रकाशक (संचालक वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग) का वक्तव्य है कि इस बारहमासी की "भाषा मानसकर्ता तुलसी की नहीं जान पड़ती। परंतु यह अवश्य इसी नाम के किसी बड़े महात्मा की बनाई है"। केवल भाषा के आधार पर यह कहना कि यह मानसकार तुलसी की रचना नही हैं कुछ विशेष अर्थ नहीं रखता क्यों कि यह कृति सम्पादक ने अपने मित्र भगवत भक्त बाबू माधो प्रसाद खँपरिया के मुख से सुनकर लिखी थी और यह रचना मौखिक परंपरा से ही इतने दिनों तक चली आरही थी। मौखिक परंपरा के कारण ही उसमें सम्भवतः भाषा सम्बंधी अनेक परिवर्तन हुए होंगे। यदि मानसकार तुलसीदा राम–लला नहछू, हनुमान–चालीसा, जानकी–मंगल और पार्वती–मंगल की रचना कर सकते थे तो बारहमासी के उनकी रचना होने में कोई आश्चर्य नहीं। परंतु इसकी कोई हस्तलिखित प्रति नहीं मिली, अस्तु, निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। यह रचना चाहे जिस किसी तुलसीदास की हो इसमें ज्ञान वैराग्य की बातें बड़े स्पष्ट ढंग से कही गई हैं। कुछ नमूने देखिए। चैत्र मास से बारहमासी का प्रारंम्भ करते हुए वे कहते हैं:—

चैत चिरजीवँ न कोई जीव जम को ग्रास है।
मूढ़ निश्चय समुझ अंधे स्वप्न सों जग वास है।
विषय तृष्णा लोभ वंशी मोह माया जार है।
तात माता भ्रात बनिता, झूठ सब परिवार है।
जठर में जिन प्राण राखे, सो बिसारे बावरे।
देख मृगतृष्णा जो भूले वृथा धोखा खायरे।
राम भजु मन पाय नर तन बनो अच्छे दावरे।
ऐसो अवसर खोय के फिर मूढ़ गोता खायरे।

इसी प्रकार भादौं मास के सम्बंध में कवि की उक्ति है:—

मास भादौं अति भयानक गहगहे अति गाजहीं।
तन गगन में कूच के खासा नगारे बाजहीं।

---

[१] पृ० २४०-२४९ [२] वही पृ० २५०, [३] वही पृ० २४५।

दुरित प्रगटत थिरत नाहीं चित्त चंचल दामिनी ।
दम्भ जुगुनू निश अविद्या अविवेककारी यात्रि भी ।
करौं हिय में आयके हरिनाम मानु प्रकाश रे ।
दम्भ जुगूनू निश अविद्या होय सबकर नाश रे ।

और फागुन मास से वे बारहमासी का अंत करते हैं :—

मास फागुन धन रतन रथ, देय कंचन दान रे ।
अश्व गज गो भूमि से ज्या नाहिं नाम समान रे ।
भ्रमत तीरथ सकल व्रतकर जोग साधन सोय रे ।
यज्ञ जप तप नेम हरि के नाम सम नहिं होय रे ।
सिर जटा नख मौन धारत गेह तज बनवास रे ।
बेद शास्त्र पुराण पढ़ि नहिं जात ओसन प्यास रे ।
तर्यो चाहै जीव जो तूं, त्यागु आन उपाव रे ।
विश्वास कर निज दास तुलसी प्रेमहरि गुण गाव रे ।

इस बारहमासी में भी केवल उपदेश ही उपदेश है, मास-विशेष के जीवन-जगत का निरीक्षण नहीं के बराबर है। इस में भी चैत्र के स्थान पर यदि पूस कर दिया जाय तो भावार्थ की विशेष क्षति नहीं होगी। इस दृष्टि से यह रचना मानसकार की कृति होने में संदेह उत्पन्न करती है। सच्चा कवि उपदेश भी अपनी सरस और चमत्कार पूर्ण शैली में देगा, कोरा उपदेश, जिसमें जीवन-जगत की पूर्ण रूप से उपेक्षा हो उसकी लेखनी से शायद ही निकले। परंतु गोस्वामी तुलसीदास ने अपने युग में प्रचलित सभी शैलियों और परंपराओं में रचना की थी—चारण और भाटों की कवित्त-सवैया वाली परंपरा, नीति और साखी वालों की दोहा परंपरा, भक्तों की पद-रचना परंपरा, अवधी भाषा की प्रेमाख्यानक रचनाओं की दोहा-चौपाई वाली परंपरा, रहीम की बरवै परंपरा, मंगलों की परंपरा, स्तोत्रों की परंपरा आदि सभी परंपराओं में उन्होंने रचना की थी। फिर बारहमासा की ही परंपरा उन्होने क्यों छोड़ी होगी, यह बात विचारने की है। उनके युग में बारहमासा की परंपरा प्रचलित थी, इसमें तो कोई संदेह नहीं। तुलसीदास से पहले जायसी के जीवन-काल में ही जायसी-रचित बारहमासा गा गाकर जायसी के चेले अवध प्रांत में घर घर भीख माँगते थे इसका उल्लेख पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका में किया है। सम्भव है तुलसीदास ने इस परंपरा में भी रचना की हो जो मौखिक परंपरा से परिवर्तित हो इस वर्तमान रुप में आगई हो। चाहे जो हो संतों की बारहमासा परंपरा में तुलसीदास की बारहमासा एक महत्वपूर्ण रचना है।

———

जन-जीवन और साहित्य

डा० रामअवध द्विवेदी

जन-जीवन और साहित्य का सम्बन्ध इतना प्रत्यक्ष है कि उसके सम्बन्ध में कुछ कहना अनावश्यक सा प्रतीत होता है। वाल्मीकि अथवा होमर के समय से आज तक साहित्य समाज में ही रह कर प्रस्फुटित और विकसित हुआ है, और प्रत्येक युग में सामाजिक परिस्थितियों तथा शक्तियों के घात प्रत्याघात से ही उसका स्वरूप निर्धारित हुआ है। आदिम समाजवाद, सामन्तशाही, पूजीवाद और आज के साम्यवादी विधानों में जैसे जैसे समाज का ढाँचा तथा मानव-जीवन परिवर्तित होता गया है, वैसे ही साहित्य के स्वभाव तथा अवयवों में भी परिवर्तन दिखाई पड़ता है। यही नहीं कि साहित्य का निर्माण और विकास जनजीवन के आधार पर होता है किन्तु यह भी सत्य है कि अधिकांश साहित्य जनसाधारण की तृप्ति तथा संतोष के लिए निर्मित होता है। स्वान्तः सुखाय लिखने वाले कवि भी जानते हैं कि सहृदयजन उनकी कृतियों का रसास्वादन करेंगे। स्वयं तुलसीदास ने यद्यपि स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया है कि उनकी रघुनाथ गाथा उनके अपने संन्तोष के लिये लिखी गई है, तथापि उन्होंने अपने समकालीन समाज का चित्र अंकित करते हुये तत्कालीन अनेक समस्याओं पर प्रकाश डाला है। आज का व्यक्ति-वादी कवि जब अपनी पुस्तकों को सजधज के साथ छपवा कर चाव से जनता के सामने प्रस्तुत करता है तब हमें तनिक भी संशय नहीं रह जाता कि वह साहित्य को समाज की वस्तु मानता है। यद्यपि पूछने पर वह यही कहता है "गायक हूँ कुछ गा लेता हूँ"। योरोपीय साहित्य के रोमांटिक युगों में जब कवि अपनी ही अनुमति को मुखरित करने में संलग्न था, उस समय भी उसकी भावनाएं तथा उसकी कला सामाजिक उथल पुथल से प्रभावित थी। सोलहवीं शताब्दी में योरोप के कई देशों में मध्य युग के बाद की नवजागृति के प्रभाव ने कवियों की कल्पना को प्रखर तथा उनकी प्रतिभा को सशक्त बनाया। उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी, फ्राँस, इंग्लैंड, स्पेन आदि में रोमांटिक काव्य का जो आविर्भाव हुआ उसके पीछे फ्रांस की राज्यक्रान्ति की विद्रोही भावना छिपी हुई थी। इसी लिए उन्नीसवीं शताब्दी के रोमांटिक काव्य में सोलहवीं शताब्दी के काव्य की अपेक्षा विद्रोह की भावना कहीं अधिक प्रबल है।

साहित्य और जीवन का यह घना सम्बन्ध किसी भी सजीव साहित्य के इतिहास में पग पग पर परिलक्षित होता है। अंग्रेजी साहित्य में चॉसर के काव्य में उस काल का अत्यन्त वास्तविक चित्रण है जब मध्य युग अपनी अन्तिम सांसें ले रहा था। स्पेन्सर की कविता में मध्य युग तथा उसके बाद आने वाले नव जागरण के युग के अनेक पात्र मिलकर एक विचित्र वातावरण उत्पन्न कर देते हैं। शेक्सपियर के नाटकों से १६वीं शताब्दी के अन्तिम २५ वर्षों में रहने वाले अंग्रेजों की आशाओं और आकांक्षाओं का जितना अच्छा पता लगता है, उतना किसी और साधन से नहीं। मिल्टन के महाकाव्य में देवों और दानवों का युद्ध बहुत कुछ राजा और पार्लियामेंट के समर्थकों के युद्ध का प्रतीक मात्र है! इसी प्रकार १८वीं शताब्दी में अंग्रेजी उपन्यास का जन्म सामाजिक परिस्थियों के कारण हुआ और जैसा हम बता चुके हैं,

१८वीं शताब्दी के रोमांटिक काव्य की तह में राजनैतिक, सामाजिक, और दार्शनिक कारण थे। आज के अंग्रेजी साहित्य की जड़ प्रत्यक्ष रूप से जनजीवन में है।

हिन्दी के सम्बन्ध में भी आदिकाल से आजतक बहुत कुछ यही बात सत्य है। साहित्य के प्रारम्भिक युग में काव्य को प्रचलित धार्मिक विश्वासों से बौद्ध, जैन तथा नाथ पंथ के सिद्धान्तों से प्रेरणा मिली। वीरगाथाओं में युद्ध और प्रणय का वर्णन है, क्योंकि सामन्तशाही समाज में इन्हीं दोनों का प्राधान्य था। भक्तिकाल में जनता की बेबसी भक्ति में परिणत हुई और तुलसी और सूर के काव्य में उसके भाव उद्वसित हुए। रीतिकाल में प्रायः दो सौ वर्ष तक साहित्य जन साधारण के जीवन से कुछ विलग हो गया। साहित्य का क्षेत्र संकुचित हो गया किन्तु उस सीमित दायरे में धनी मानी जमींदारों और रइसों के विलासमय जीवन का चित्रण बहुत कुछ यथार्थ रूप से हुआ। आजका विस्तृत तथा बहुमुखी जीवन गद्य और पद्य साहित्य में अनेक प्रकार से व्यक्त हो रहा है। जनता के वास्तविक जीवन से दुराव होने पर साहित्य नक़ली और अवास्तविक होकर रह जाता है तथा उसे उच्चतम श्रेय नहीं प्राप्त होता। लैटिन साहित्य ग्रीक साहित्य की समानता करने में असमर्थ रहा, विशेष रूप से इसलिए कि रोम के कवियों तथा नाटककारों ने रोम के यथार्थ जीवन को अंकित करने की जगह पर ग्रीस के जीवन को ही अपने काव्य का आधार बनाया।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि साहित्य और जीवन के इस निकट सम्बन्ध का क्या स्वरूप है? इस प्रश्न पर बहुत पहले से मतभेद चला आया है। प्लेटो ने काव्य की निन्दा करते हुए बताया है कि कवि उस आदमी की तरह है जो एक बड़ा दर्पण लेकर इधर उधर घुमाता तथा उसमें विविध पदार्थों को प्रतिविम्बित करता है। प्लेटो के अनुसार कवि के कार्य की कोई सार्थकता नहीं है, क्योंकि वह किसी वस्तु का निर्माण नही करता केवल उसकी छाया पकड़ता है। यह दर्पण दिखाने वाला रूपक बहुत प्रचलित हो गया है क्योंकि शेक्सपियर ने एक स्थल पर लिखा है कि नाटक का कार्य है वास्तविकता को दर्पण की भांति प्रतिविम्बित करना, किन्तु प्लेटो का विचार उसके गुरु सुकरात से भिन्न था, और उसके प्रतिमा सम्पन्न शिष्य एरिस्टाटिल ने उसका खंडन किया है। सुकरात ने एक स्थल पर लिखा है कि यदि हम मान लें कि काव्य का उद्देश्य केवल वर्णनात्मक है तब कठिनाई सामने यह आती है कि जो उद्देश्य है, वर्णनातीत भी है। हम भावों, विचारों आदि को देख नहीं सकते इसलिए हम उन्हें अंकित भी न कर सकेंगे किन्तु हम जानते हैं कि साहित्य का प्रतिपाद्य केवल स्थूल पदार्थ नहीं है वरन् सूक्ष्म विचार और अनुभूतियाँ भी हैं। सुकरात के उपरोक्त कथन से प्रतीकों की सर्थकता का संकेत हुआ। एरिस्टाटिल ने बताया है कि जब कवि अपने काव्य का निर्माण करता है तब वह पदार्थों तथा जीवन के व्यापारों की केवल नकल नहीं करता वह अपनी प्रतिभा के बल से वास्तविकता के आधार पर नवनिर्माण का कार्य करता है। जीवन के बिखरे हुए अवयवों को वह संगठित करके एकता के सूत्र में बांध देता है। वह विशिष्ट से सार्वभौम की ओर व्याष्टि से समष्टि की ओर अग्रसर होता है। इतिहास की घटनाएं सत्य हैं क्योंकि वह घटित हुई हैं किन्तु साहित्य के तथ्य उनसे भी अधिक सत्य हैं, क्योंकि संभाव्य होने के कारण वे अनेक बार घटित हो सकते हैं। इस प्रकार साहित्य में अधिक दार्शनिकता है और इतिहास से उसका महत्व कहीं अधिक है। आधुनिक

काल के अनगिनत विचारकों ने कल्पना को महत्व दिया है और बताया है कि साहित्यिक निर्माण का कार्य कल्पना के आधार पर ही सम्भव है। कल्पना कई क्रियाओं को एकत्र कर अपना कार्य करती है। निरीक्षण द्वारा पदार्थों और दृश्यों को ग्रहण करके एक नए क्रम से वह उनका एकीकरण करती तथा इस प्रकार नए रूप या मानसिक चित्र प्रस्तुत करती है। कल्पना की यह नवसृष्टि आनन्द-प्रदायिनी होती है तथा व्यक्ति के मन में इन चित्रों को दूसरों के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए सहज अनुरोध होता है। सहृदय ज्ञान के साथ ही आनन्द का अनुभव भी करता है। साहित्यिक कृतियों को आज हम बहुत कुछ कल्पना के आधार पर ही समझने की चेष्टा करते हैं और उसी को ध्यान में रखते हुए हम इनका मूल्य आँकते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में योरोप में कल्पना का महत्व सभी ने स्वीकार किया, किन्तु कुछ वर्षों के बाद ही लोगों की रुचि काल्पनिकता से हट कर यथार्थ की ओर झुकी। विशेष कर फ्रांस में साहित्य में यथार्थवाद का अभ्युदय हुआ और यह आन्दोलन जोर पकड़ता गया। ज़ोला ने फोटो खींचने की नवीन कला से प्रेरणा प्राप्त की और जीवन के सच्चे चित्र अपने उपन्यासों में प्रस्तुत करने लगा। उसने कल्पना का आश्रय कम से कम लेकर यथार्थ के आग्रह को अधिक से अधिक स्वीकार किया। यथार्थवाद का यह आन्दोलन बहुत काल तक न चल सका और शताब्दी के अन्त के पूर्व ही प्रतीकवादियों ने इसका घोर विरोध किया। यथार्थवाद की पराजय हुई और आज ज़ोला का प्रभाव बहुत सीमित रूप में देखने में आता है। प्रतीकवादी कवियों तथा नाटककारों की परम्परा आज भी बहुत कुछ जीती जागती है। फ्रांस के बाहर ईट्स, टी० एस० ईलियट, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रिल्के, ब्लोक प्रभृति यशस्वी कलाकार प्रतीकवादी परम्परा में हुए हैं। पूर्ण यथार्थवाद न तो सम्भव है और न वांछनीय ही। यदि जीवन की असली तसवीर देखने से ही मनुष्य को संतोष हो तो वास्तविक जीवन उसके सामने है; उसको ही देख कर वह तृप्त हो सकता है। साधारण यथार्थवाद में कल्पना का कुछ न कुछ पुट अवश्य रहता है। साहित्यकार अपनी कृतियों में यथार्थ को घटा बढ़ा कर व्यक्त करता तथा जीवन के वास्तविक क्रम को एक नया रूप देता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि साहित्य चाहे यथार्थवादी हो अथवा आदर्शवादी या कल्पना प्रधान, जीवन की प्रतिच्छाया मात्र नहीं है। साहित्यकार की प्रतिभा अपना काम करती और जीवन को एक नए ढंग से अंकित करती है। यही उसकी मौलिकता है और इसीसे उसकी कृतियों में चमत्कार तथा रोचकता का आविर्भाव होता है।

भाषा का प्रश्न भी अत्यन्त महत्व पूर्ण है। बहुतों की यह धारणा है कि जनजीवन और साहित्य को ध्यान में रखते हुए साहित्य की, विशेष कर जनसाहित्य की, भाषा साधारण बोलचाल की होनी चाहिए। इस सिद्धान्त के हिमायती यहां तक कहते हैं कि ग्रामीणों और अशिक्षित नागरिकों की भाषा में ही साहित्य लिखा जाना चाहिए, तभी वह उनके जीवन को समुचित रूप से व्यक्त कर सकेगा। एक प्रकार का जनसाहित्य ऐसा होता है जो साधारण पढ़े लिखे लोगों द्वारा जनता के मनोविनोदार्थ तैय्यार किया जाता है। जैसे गाँव और शहरों की सड़कों पर गाए जाने वाले बिरहा, कजली, बारहमासे इत्यादि। इनमें साधारणतया इतना भद्दापन होता है कि उनको साहित्य की उपाधि देना उचित नहीं है किन्तु कभी २ इस प्रकार के जनसाहित्य में साहित्यिकता का समावेश हो जाता है। और उसमें एक अनूठी लाक्षणिकता और रोचकता दिखाई पड़ती है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि जब इस प्रकार कवित्व का प्रदर्शन होता

है भाषा का स्तर आपसे आप ऊंचा उठ जाता है, उसमें शक्ति के साथ अनायास सफाई आ जाती है। इस चमत्कारपूर्ण भाषा को हम जनता की भाषा नहीं कह सकते। दूसरे प्रकार का जनसाहित्य वह है जो पढ़े लिखे साहित्यिकों द्वारा अनुग्रह पूर्वक जनता को लाभ पहुंचाने के लिए लिखा जा रहा है। बड़े बड़े पंडित इन दिनों आल्हा और कजली लिखने लगे हैं, इस विश्वास से कि जनता केवल गंवारु बोली में कही जाने वाली बात ही समझ सकती है। इस बात को अटल सत्य मान कर विद्वद्जन अपनी ऊंचाई से उतर कर कभी कभी गंवारों की बोली बोलने का प्रयास करते हैं। फल यह होता है कि उस बोली में न स्वाभाविकता होती है और न गति। सहानुभूति का जो आडम्बर इस प्रयास में छिपा रहता है उससे जनता का कोई लाभ नहीं हो सकता। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक स्थल पर लिखा है "God meets mān half ways" ईश्वर अपने सिंहासन से उतर कर नीचे आते हैं, मनुष्य को ऊपर खीचने के लिए किन्तु उसके पहले यह आवश्यक है कि मनुष्य स्वयं ऊपर उठने की चेष्टा करे। जनसाहित्य की भाषा के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसी ही बात लागू होती है। सुशिक्षित साहित्यिकों को अपनी सौन्दर्यपूर्ण आलंकारिक भाषा को छोड़ कर जनता की ओर झुकना पड़ेगा किन्तु साथ यह भी वांछनीय है कि जनता का मानसिक विकास हो, और उसकी समझने की शक्ति बढ़े। जनता की सतह पर उतर कर गंवारु बोली में ही साहित्य लिखने से यह कार्य सिद्ध न हो सकेगा।

जनसाधारण की भाषा के साहित्यिक प्रयोग के लिए अनेक देशों में समय समय पर आन्दोलन हुए, किन्तु एक सीमा के बाद वह आगे न बढ़ सके। उन्नीसवीं शताब्दी में इटली, स्पेन तथा नार्वे और स्वीडन में बोलचाल की भाषा में साहित्य निर्माण की मांग हुई और उसकी पूर्त्ति के लिए साहित्य लिखा गया, किन्तु ऐसे प्रयत्न न तो स्थायी हुए और न उनको कोई विशेष सफलता ही प्राप्त हुई। मध्य युग में दान्ते के सामने यही प्रश्न उपस्थित हुआ। योरोप की बहुत सी स्थानीय भाषाएं उस समय तक बहुत कुछ विकसित हो चुकी थीं और दान्ते ने इस मसले पर विचार किया कि उनका प्रयोग साहित्य में कहां तक और किस प्रकार सम्भव था। योरोप की विविध बोलियों के स्वभाव और उनकी विशेषताओं पर विचार करने के उपरान्त दान्ते इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि साहित्यिक प्रयोजन के लिए केवल ऐसी ही बोलचाल की भाषाएं काम में लाई जा सकती हैं, जिनमें सम्यक रूप से सफाई और परिष्कार हो चुका हो जो कान्ति और सौन्दर्य्य से समन्वित हों। इन्ही गुणों को इंगित करने के लिए दान्ते ने 'Illustrious Vernacular' अथवा कान्ति और गरिमा समन्वित जनभाषा की कल्पना प्रस्तुत की। अंग्रेजी कवि वर्ड्स्वर्थ ने इस सिद्धान्त का निरूपण किया कि कविता बोल चाल की भाषा में लिखी जाय। किन्तु जब उसने इस सिद्धान्त को कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया तब वह असफल ही रहा। आयरलैंड में पिछले दिनों के कवि और नाटककारों ने जनता की भाषा को साहित्य में स्थान दिया। किन्तु उसको एक नया रूप और एक नई लय और गति प्रदान करने के उपरान्त ही वह ऐसा कर सके। सिंज या ईट्स के नाटकों के पात्र आयरलैंड में बोले जानेवाले शब्दों और मुहाविरों का प्रयोग करते हैं किन्तु उनकी भाषा वही नही है जो आयरलैंड के किसान अपने दैनिक जीवन में बोलते हैं। साहित्यिक भाषा को अलंकारों से सजाने के पक्षपाती आज बहुत कम मिलेंगे क्यों कि अधिक सजधज से उसमें कृत्रिमता आ जाती है और उसकी गति में अवरोध उत्पन्न होता है। आज के सुरुचिपूर्ण व्यक्ति को व्यर्थ का शृङ्गार अरुचिकर है जीवन में और साहित्य में समान

रूप से। किन्तु साथ ही साथ साहित्यिक भाव प्रकाशन के जटिल प्रश्न पर सोचने पर यह बात भुला देना कठिन मालूम पड़ता है कि साहित्यकार को अपनी कृतियों में सफलता प्राप्त करने के लिए और अपने उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए अपने भाव प्रकाशन के माध्यम में कुछ न कुछ परिष्कार और सौन्दर्य का सहारा अवश्य लेना पड़ेगा। भाषा के लिए वह सौन्दर्य अवांछनीय हो सकता है जिसे हम Ornament कहते हैं किन्तु वह सौन्दर्य जिसे elegance कहते हैं किसी न किसी अंश तक अनिवार्य है।

मानव के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन से साहित्य का निकटतम सम्बन्ध है। जीवन के तथ्यों का प्रकाशन तथा प्रदर्शन साहित्य में होता है, और साथ ही साथ जीवन साहित्य से निरन्तर प्रभावित भी होता रहता है। परंतु यह मान लेना कि साहित्य जीवन का कोरा अनुकरण है अथवा पग पग पर उसका अनुसरण करता है भ्रम मात्र है। साहित्य जीवन को एक नए रूप में प्रस्तुत करता है जिससे न हम को केवल आनन्द प्राप्त होता है वरन् हम जीवन की सतह से नीचे उसकी गहराई तक पहुँचने में समर्थ होते हैं। साहित्य की भाषा जनता की भाषा के निकट होते हुए भी उससे भिन्न है क्यों कि जिस गति, लय और सौन्दर्य्य का समावेश उसके लिए परमावश्यक है, वह हमें जनसाधारण की बोलचाल की भाषा में नहीं मिलती। साहित्य जीवन से मिला हुआ भी है और उससे पृथक भी।

'उलझन'

श्री नन्दकिशोर सिंह

केवल कंटक मग से गुजरा,
सुमनों को मैं क्या पहचानूं।
हूँ अन्धकार से घिरा हुआ,
जलते दीपक को क्या जानूं॥

अब तक जीवन में तो हमने,
कटुता पाई, पशुता देखी।
व्रण को आँसू से धो दोगे,
यह सत्य कथन कैसे मानूं। केवल०॥

उपहास, ग्लानि, नैराश्य, शोक—
से मुखरित नीरवता कैसी।
पर-हित अर्पित सब कुछ करना,
यह भाव कहाँ कैसे पालूं। केवल०॥

अपने पन का घेरा चहुँ दिसि,
उसके बाहर परकीय छुद्र।
मैं सोच न पाता हूँ आगे,
करमों को निज क्यों कर डालूं॥ केवल०॥

"अबे ! तेरी मौत आ गई"

श्री अमरनाथ टंडन

(अगर कभी आप बनारस आवें तथा दस, सवादस और साढ़ेदस वाली 'बस' से विश्वविद्यालय जाने के लिये गुदौलिया पर इंतजार करें तो आप सुनेंगे, अवश्य सुनेंगे ये शब्द : 'अबे तेरी मौत आ गई')

वह एक रिक्शेवाला था जिसके नेत्रों से जीवन की खुमारी नष्ट हो चुकी थी। वह अब एक जानवर-सा था ; एक मनुष्य-कंकाल जो मनुष्यों को ढोने का व्यवसाय करता है। रिक्शा उसकी जीविका का साधन है, क्रमशः आलिंगन करती मौत उसकी जिन्दगी......। दूर कहीं काम से जाना था सोंचा 'बस' से चला जाऊँगा। पैसा भी कम लगेगा और समय भी बच जायगा। मैं पास के रिक्शा स्टैंड, बस स्टापेज पर खड़ा इंतजार कर रहा था। रिक्शेवाले चिल्ला रहे थे,--"सोनारपुरा बाबूजी, सोनारपुरा–अस्सी एक सवारी, आइये बाबूजी ! अगर 'बस' से पहिले न पहुँचा दूँ तो कहियेगा। खूब तेज चलूंगा।" और मैं उन्हीं में खोया था, मेरे इस खो जाने में भी कोई विचार न था। कुछ शून्यता, भारीपन एक अनजाना स्वप्न लिये मैं खड़ा "बस" का इंतजार कर रहा था। काफी हो-हल्ला था, सब के पास अपने भाव थे, अपने विचार थे और वे उनमें उलझे हुये थे। कुछ उन उलझनों को संभाषण से सुलझा रहे थे, कुछ शांत खोये-से खड़े थे पर कुछ ऐसे भी थे जो स्वतंत्र प्रतियोगिता में भाग ले रहे थे। वे अपनी रोजी, अपने से लड़ रहे थे, चाह रहे थे अधिक से सवारी प्राप्त कर लेना ताकि अधिक फेरा लगा लें।

'बस' आगई। उसकी आकृति स्पष्ट होते ही सरल-सुविधावाली जगह प्राप्त करने के लिए सब उसकी तरफ दौड़ से पड़े। रिक्शेवाले जो उसके रास्ते में थे, उधर से अपना रिक्शा मोड़ चले। इसी वक्त एक रिक्शावाला जो काफी देर से सवारी के लिए चिल्ला रहा था अपने साथी की तरफ चिल्लाया—"अबे ! तेरी मौत आ गई।"

एक क्षण के लिये मैं सब कुछ भूल गया। 'बस' भूल गया, अपने जाने का उद्देश्य भूल गया, वहाँ का वातावरण भूल गया। मन में गरज-गरज कर कह रहा था, उन शब्दों के हथौड़े की चोट मुझे सुना रही थी—"अबे। • तेरी मौत आ गई"। मुझे धक्का सा लगा मन में थोड़ी सी हिचकिचाहट हो तो उसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। मैंने खड़े हो 'बस' का इंतजार किया था, समय और पैसों की बचत होती पर मै हिचकिचाया नहीं, तुरन्त 'बस' छोड़ उसके रिक्शे पर जा बैठा। रिक्शेवाले के चेहरे पर मैंने आश्चर्य की जगह पिपासा, भूख और मृत्यु झांकती सी देखी। मैंने महसूस किया कि उसका जीवन अनियंत्रित ज्वालाओं के कारण धीरे-धीरे एक विस्फोट के लिये तैयार होता जा रहा है। उसके अंग-प्रत्यंग से कुछ विद्रोह की आवाज सुनाई पड़ी पर मैंने पुनः महसूस किया कि आँखों से जीवन-ज्योति खत्म हो चुकी है। वह सिर्फ एक तृष्णा, मृत्यु और संघर्ष का प्रतीक है।

उसका पैर पैंडिल के साथ नाच रहा था और रिक्शा भागा जा रहा था। अभी-अभी 'बस' अपने पेट में आदमी और लड़के, युवा, बुड्ढे और स्त्रियों को लिए भाग गई। उसकी दोनों सामने की आँखों से ज्वाला निकल रही थी जो सड़क पर बिछल रही थी। उसे देख पाँच शब्द पुनः उभर आए और मैं बुदबुदाया—'अबे ! तेरी मौत आ गई।'

धीरे धीरे मुझे प्रतीत होने लगा कि 'बस' नामधारी यह महायान एक शैतान है—बहुत बड़ा शैतान ! लौह-खंड से ही उसका शरीर रचा गया है, अमानुषिक शक्ति के साथ वह दौड़ता है, उसके नेत्रों से ज्वाला निकल रही है जो अपने प्रकाश में सब को जलाती, आँखों को चकाचौंध उत्पन्न कराती है। उसके चार गोल पहियों में किशोर और बालकों का खून चुहचुहा रहा है, उसके दाँतों में गरीबों तथा दरिद्रों का नीला खून चमक रहा है। जमकर उसके पेट में कंकाल अवशेष मानव का शेष जमा होता जा रहा है। उसी वक्त मेरी नजर उसके उदर पर पड़ी। देखता हूँ कि एक प्रतीक जो देखने में मानव के शरीर ढाँचे-सा लगता है, बैठा है। उसके शरीर पर मुलायम रोयों का कोट है, हाथ में हीरे की अंगूठी है, कलाई में सोने की घड़ी है, आँखों में सुनहली कमानी का चश्मा है, सिर पर हैट है, गले में टाई है—पर पेट जरूर फूला है शायद बदहज़मी का रोग भी है। सभी विलासिता के चिन्ह मात्र और कुछ नहीं। उसके आगे देखता हूँ कि वह लौह-शैतान गरीबों और श्रमिकों के अन्त में, भोजन और वस्त्र में हिस्सा बँटा लेता है तथा अपने उस हिस्से को भी लाकर उस महाप्रभू के चरण पर रख देता है। वह प्रतीक बदहज़मी की शिकायत होने पर भी उस हिस्से को निगले जा रहा है। जब उसके कानों में उन भूखे, नंगों की, जिनके बहुत जरा से हिस्से से यह लौह-शैतान बहुत बड़ा भाग नोच लाया था, चित्कार सुन पड़ती कि 'अबे ! तेरी मौत आगई' तो वह खुशी से मुस्कुरा उठता है और अपने सूखे ओठों पर अपनी मोटी जिह्वा फेरने लगता है। उसका यह लौह शैतान-नौकर समझ जाता है और किसी किशोर, बाल या किसी और के जीवन को अपने विशाल पैरों से कुचल देता है। उसके लोहू को पीकर वह महाप्रभू उन्मत्त हो उठता है और उसका यह लौह-शैतान-नौकर उन अध-भूखे लोगों के हिस्से में भी अपना हिस्सा लगाने के लिए दौड़ने लगता है।

इधर दूसरी और देखता हूँ तो यह गरीब अपने मुर्दा जीवन को जिला रखने के लिये संघर्ष करता जा रहा है। वह कह रहा है—"आइय बाबू ! अगर उस लौह शैतानवाले नौकर से जल्द ही न पहुँचा दूँ तो कहियेगा।" उसे यह ख्याल नहीं कि इस प्रकार उसका हृदय कमजोर हो टूट जाएगा। उसे याद है, सिर्फ इतना याद है, कि रिक्शे के मालिक को इतना देना है, घर पर पत्नी या छोटा बच्चा बीमार है, दवाई के लिये पैसा चाहिए और महीने के लिये राशन भी। वह सोच रहा है कि अगर चार फेरा भी लगा लूं तो हो सकता है। वह संघर्ष में डूब चुका है। उसके भीतर युद्ध हो रहा है, बाहर युद्ध हो रहा है और वह उसमें खो चुका है। उसे सिर्फ याद है—चार चक्कर अगर और हो जायें ! उसे और कुछ भी याद नहीं है, वह खो चुका है और लड़ रहा है, चिल्ला रहा है, और सोच रहा है।

इतने में यह शैतान अपने महाप्रभु का स्वार्थ लिये आता है और उसके जीवन को, उसके भोजन को, उसकी कल्पना को लेकर गायब हो जाता है। वह सोचता है कि शैतान के विशाल

पैर, विकराल दंतमाला, स्वार्थ और प्रलोभन के साथ आ रहे हैं। वह, उसका जीवन, उसका स्वार्थ सब दब कर, पिसकर नष्ट होता जा रहा है और वह चित्कार उठता है--'अबे ! तेरी मौत आ गई।'

इसी वक्त वह रिक्शेवाला मुझे झकझोर कर जगाता है--"अरे बाबू ! सो गए क्या?" दृष्टि खुलती है तो देखता हूँ कि अपने स्थान को आ गया हूँ। सामने शायद अभी अभी आकर 'बस' खड़ी हुई थी क्यों कि उसके भीतर से लोग उतर रहे थे। रिक्शेवाले की ओर देखता हूँ तो पाता हूँ कि वह दबी हुई बड़ी-बड़ी लम्बी साँस ले रहा है, उसके झाँवर माथे पर बड़ी-बड़ी पसीने की बूंदें उभर उठी हैं और वह खड़ा सोच रहा होगा तीन चक्कर और तब........। मैंने पैसे दे दिए। वह चक्कर के फेर में चला भी गया। बस भी चली गई पर मैं न तो उस वाक्य, सच्ची स्थिति का प्रतिनिधि, को ही भूल सका--'अबे ! तेरी मौत आ गई' और न इस अन्तर को। इस प्रकार के जीवन के लिये मनुष्य को क्या अधिकार है ? साधारण जीवन में इस कालरूपी शैतान और उसके महाप्रभु के शासन का क्या अधिकार है ? क्या वे तोड़कर फेंक देने योग्य नहीं ? क्या उनके प्रति विद्रोह धर्म न होगा ? सिर्फ इतना मान लेने से कि यह सब हो रहा है क्यों कि होता रहा है और ऐसी व्यवस्था है, सब प्रश्नों का हल नहीं हो सकता, न तो इस चक्कर की समस्या, यह मौत का भय। इसे नष्ट होना होगा और उसे तोड़ने के लिये हमें जरूर लड़ना होगा। इस यंत्र-शैतान तथा उसके महाप्रभु के लिये, 'तेरी मौत आ गई' के प्रति, हमें लड़ना होगा, मरना होगा, जीवन और साधारण जीवन तक.........।
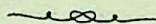
वैदिक मंत्र जैसे थे वैसे ही आज भी हैं

श्री पृथ्वीनाथ द्विवेदी

(वैदिक मंत्र पूर्ववत् ही हैं। संहिताकाल में थोड़ासा परिवर्त्तन और परिवर्द्धन के लक्षण अवश्य दीख पड़ते हैं पर उसके बाद मंत्र ऐसे कठोर नियमों के शिकंजे में जकड़ दिए गए जिनके कारण किसी भी प्रकार के परिवर्त्तन की गुंजाइश ही नहीं रह गई। ये नियम क्रमशः उत्तरोत्तर कठोर होते गए और होते होते आज इस दशा को पहुंचे नजर आते हैं जिसको देख तथा वस्तुतः वैसे ही रूप क्रमशः वेद पर लिखे गए ग्रंथों में पाकर इस निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि मंत्र जैसे रचनाकाल में थे, वैसे ही आज भी हैं।)

वैदिक संहिताएं आज प्रायः चार हजार वर्षों से बिना किञ्चित् परिवर्त्तन के ज्यों की त्यों चली आ रही हैं। यद्यपि हस्तलेख या पुस्तक प्रकाशन की चाल इस देश में नहीं थी तथापि वे केवल स्मरण द्वारा शुद्धता और यथार्थता के साथ आजतक चली आई हैं।[1] बहुतकाल से यहां धार्मिक विषयों को कंठस्थ करने की चाल चली आती थी और इसी प्रकार एक के बाद दूसरी पीढ़ी के लोगों को वे विषय प्राप्त होते थे। यह आर्यों का एक प्रधान कर्त्तव्य था जैसे कि महामात्य के वचन से मालूम होता है—'ब्राह्मणेन निष्कारणोधर्मःषडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।' (महा० पृ० ७-८)

प्राचीनकाल में सुशिक्षित आर्यों को समग्र ऋग्वेद का ज्ञान यथोचित रूप से करना पड़ता था। सामवेद और यजुर्वेद भी जो ऋग्वेद का संस्करण मात्र है बिना किसी फेर बदल के आजतक विद्यमान है। कारण यह है कि संहिताओं के सच्चे रूप के संरक्षण का सदा प्रबल प्रयत्न होता रहा है।

जान पड़ता है ऐतरेय ब्राह्मण के प्राचीन भागों के रचना के अनन्तर ही ऋग्वेद संहिता रूप को प्राप्त हुआ है। ब्राह्मणों में स्वर तथा शब्दांश की संख्या का जो उल्लेख है उससे यही विदित होता है कि प्राचीन मूल ग्रंथ में संधि के नियम नहीं थे। प्रत्येक शब्द अथवा शब्दांश को उसी रूप में रखने की रीति थी पर यह बात संहिताकाल में बदली हुई पाई जाती है क्यों कि संहिता में संधि का स्वरूप स्पष्ट है जैसे—पहले के पाठ में "तु–अम्हि–अग्ने" मिलता है किन्तु बाद की संहिता में "त्व ह्यग्ने" ऐसा रूप पाया जाता है। पाणिनि के "परः संनिकर्षः संहिता"

[1] यह प्रश्न विवादास्पद है कि भारत में वेदकाल में लिखने की चाल थी अथवा नहीं ? प्रोफेसर विल्सन और हीरन के अनुसार भारत में वर्णमाला लिखने की रीति अत्यन्त प्राचीनकाल से थी। कलकत्ता विश्वविद्यालय के भूतपूर्व अध्यापक पं० सकलनारायण पाण्डेय ने "उतत्वः पश्यन् न ददर्श" इत्यादि (ऋ० अष्टक) के इस मंत्र में के पश्यन् शब्द के आधार पर यह सिद्ध किया है कि संहिताकाल में लिखने की प्रथा थी अन्यथा जो वाणी सुनने की वस्तु है उसे देखने के कहने का क्या तात्पर्य होगा।

को देख इस निष्कर्ष पर पहुचना पड़ता है कि निस्संदेह संहिताएं संधि के फलस्वरूप हैं। यह बात इससे भी सिद्ध है कि स्वर संवंधी प्रयोग के कारण किसी पंक्ति में भान्ताभङ्ग तथा वाक्यांश की न्यूनता भी पाई जाती है।[१] अतः वैदिककाल को दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। एक तो यजुर्वेद और सामवेद संहिताओं के रचना का काल और दूसरा ऋग्वेद संहिता का। शतपथ ब्राह्मण कहता है कि यजुर्वेद के मूल में परिवर्त्तन करना संभव है पर ऋग्वेद संहिता के एक वाक्यांश में भी हेर फेर करना संभव नहीं। तैत्तरीय संहिता ने भी साम औ यजुट् के ऊपेक्षा ऋग्वेद संहिता के प्रति अधिक आस्था दिखलाई है[२]। संहिता के व्याकरण संबंधी रूप और नियम के विषय में अरण्यक और उपनिषदों में उल्लेख पाया जाता है। इससे यही प्रामाणित होता है कि ऋग्वेद संहिता ने शतपथ ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद् इन सबों के पूर्व और ऐतरेय ब्राह्मण के प्राचीन भागों के पश्चात् अपना कठोर और दुर्गम रूप धारण किया है। पुनः इसी रूप के पूर्वशिक्षा के निमित्त जैसा कि पहले कहा जा चुका है कई अन्य ग्रंथों के निर्माण की आवश्यकता हुई जिनका उल्लेख क्रमशः किया जाता है।

प्राचीन समय में, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, संहितायें कंठस्थ की जाती रहीं और मौखिक रीति से गुरु से शिष्य को प्राप्त होती रहीं। (आज भी इस प्रकार की शिक्षाएं दी जाती है) पर जब ये लोग अपने अपने पूर्व घरों को छोड़ छोड़ देश के अन्यान्य भागों में जा बसे ऐसी हालत में मुरु शिष्य के दूर पड़ जाने के कारण उच्चारण में भेद पड़ने लगा पर तौभी मूल ग्रंथ ज्यों का त्यों ही रहा। इसी उच्चारण भेद से शाखाओं कि उत्पति हुई। पतंजलि ने अपने भास्य में ऋग्वेद के इक्कीश शाखाओं की चर्चा की है।

इसी प्रकार जब ब्राह्मण साहित्य की वृद्धि काफी हो गई तो उनको अक्षय और स्थायी रखने की चिन्ता सवार हुई जिसके परिणाम स्वरूप ग्रंथो की रचना हुई।

वेदों का समुचित रूप से पाठ, सम्यक प्रकार से उनके ज्ञान प्राप्ति तथा किसी भी प्रकार का वर्त्तमान साहित्य में न्युनाधिक न होने पावे, एतदर्थ ज्ञान की कई शाखाओं की उत्पत्ति हुई जो वेद के षडङ्गो के नाम से पुकारे जाते हैं। ये हैं :—(१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त (५) छंद और (६) ज्योतिष।

(१) शिक्षा :—इसमें ६ अध्याय हैं, जिनमें अक्षर (स्वर-व्यंजन) उच्चास चिन्ह (उदान्त, अनुदात्त, स्वरित) मात्रा (लघु, दीर्घ आदि) संधि और उच्चारण के दोषों से वचने के उपाय हैं।

---

[१] गायत्री मंत्र जो २४ अक्षर का गायत्री छंद उसमें एक अक्षर की कमी पड़ती है उसे 'इत्यादिपूरण:' इस सूत्र के बल से 'वरेव्यं' के स्थान बरेणियं इस प्रकार करके २४ अक्षर की पूर्त्ति यह इसका उदाहरण हुआ। अदि पद से 'उव' लिया जाता है इसका उदाहरण है 'दिवं गच्छ स्वः पत' यहां 'सुवः पत' करके छंद पूर्ति किया जाता है।

[२] 'यत् वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तद्, यद् ऋचा तद् दृढमिति।' (तै० सं० ६।५।१०।३)

(२) कल्प :—भिन्न भिन्न संहिताओं में विशेष विशेष विधियों के लिए जो सोत्र पाए जाते हैं उनका संग्रह है।

(३) व्यकारण :—षडङ्गों में व्याकरण का महत्वपूर्ण स्थान है; इसको वेदों की मुख सज्ञा प्राप्त हुई है।[१] सचमुच ही इस अंग ने वेद की रक्षा में महत्वपूर्ण हाथ बटाया है। वररूचि ने व्याकरण का प्रयोजन और प्रयोजनों के साथ वेद की रक्षा भी बताया है—"रक्षोहाग मलध्वसंदेहाः प्रयोजनम्।" पतञ्जलि ने महाभाष्य के पस्पशाह्निक में वेदों की रक्षा के लिए व्याकरण शास्त्र का अध्ययन करना चाहिए ऐसा बताया है।[२] उनका इस विषय में कहना यह है कि लोप, आगम और वर्णविकार का जाननेवाला ही समुचित रीति से वेदों की रक्षा कर सकता है। उन्होने अपने कथन के समर्थन में "स्थूलपृषतोभाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत" इस वाक्य को कहकर यह बताया है कि अच्छी तरह व्याकरण न जाननेवाला व्यक्ति नहीं समझ सकता कि "स्थूलानि पृषन्ती यस्मा सा स्थूल पृषतो" इस प्रकार से समास द्वारा अर्थ आएगा अथवा 'स्थूला चासौ पृषती' इस प्रकार से अर्थ आएगा। पर सम्यक् रूपेण व्याकरण शास्त्र का जाननेवाला इस प्रकार असमंजस में पड़कर गलती नहीं कर सकता क्योंकि वह जानता है कि समास में अन्तोदान्त होने पर कर्मधारय और पूर्वपद प्रकृति स्वर होने पर बहुव्रीहि समास होता है। स्वरों का जरा भी इधर उधर होने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। कहा भी है—

'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधति ॥' [पाणिनी शि० ५२]

(४) निरुक्त :—वैदिक शब्दोंके निघण्टु की जो व्याख्या यास्कमुनि ने की है उसे निरुक्त कहते हैं। सायणाचार्य के अनुसार जिसमें एक शब्द के कई अर्थ या पर्याय कहे गए हैं उसे निरुक्त कहते हैं।[३] काशिकावृत्ति के अनुसार निरुक्त पांच प्रकार के होते हैं—१–वर्णागम २–वर्णविपर्यय, ३–वर्ण विकार, ४–नाश (अक्षरों को छोड़ना) और ५–धातु के अर्थ को बतलाना। निरुक्त के बारह अध्याय हैं। प्रथम में व्याकरण और शब्दशास्त्र पर सूक्ष्म विवेचन है। शब्दशास्त्र पर दो मत प्रचलित थे इसका पता यास्क के निरुक्त से चलता है। पहला, सब शब्द धातुज हैं; दूसरा, अनेक सब धातुज हैं पर सब नहीं। यास्क प्रथम मत

---

[१] छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौकल्पोऽथ पठयते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोतमुच्यते।
शिक्षाघ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते"
(पा० शि० ४१–४२)

[२] रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्।

[३] 'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्'।
(ऋग्वेद भास्यभूमिका पृ० ५५)

के समर्थक हैं। दूसरे और तीसरे अध्याय में तीन निघण्टुओं के शब्द प्रायः व्याख्या सहित हैं। चौथे से छठें अध्याय तक चौथे निघण्टु की व्याख्या है। सातवें से बारहवें तक पांचवें निघण्टु के वैदिक देवताओं की व्याख्या है।

(५) छन्दः—वेदों के वाक्यों का वह भेद जो अक्षरों की गणना के अनुसार किया गया हैं छंद कहलाते हैं। इनके मुख्य सात भेद हैं:—१–गायत्री, २–उष्णिक्, ३–अनुष्टुप, ४–वृहती, ५–पंक्ति, ६–त्रिष्टुप और ७वां जगती।

(६) ज्योतिष :—इसके भीतर अन्तरिक्ष में स्थित ग्रहों की दूरी, और नक्षत्रों के संबंध तथा यज्ञ आदि के मुहूर्त्तों का वर्णन आया है। यह शास्त्र यज्ञ की तिथि निश्चित करने में सहायक होता है।

ऊपर वेद के षडङ्गों के बारे में थोड़ा दिग्दर्शन कराया गया है जिससे यह साफ पता चलता है कि शिक्षा, कल्प और व्याकरण के रहते वैदिक मंत्रों में जरा भी हेरफेर नहीं किया जा सकता। अब थोड़ा प्रातिशाख्य के ऊपर प्रकाश डाला जा रहा है जिसके रहते वैदिक मंत्रों में परिवर्तन करना मणि हारे सर्प के साथ खेल करना ही है।

प्रातिशाख्य—प्रातिशाख्य व्याकरण विषयक पुस्तक है जिसमें वैदिक शाखा के शब्दों मे जो स्वरसम्बंधी परिवर्तन होते ह उनके नियमों का उल्लेख है। उच्चारण, अनुप्रास आदि विषय भी इसमें वर्णित हैं। अनुक्रमणी प्रत्येक ग्रंथकार, देवता, शब्दांश संख्या और प्रति मंत्र के छंद का नाम आदि वर्णन है। इसकी रचना महर्षि कात्यायन द्वारा हुई थी।

जिसमें संहिताएं ज्यों की त्यों रहें—शब्दांश मात्र का भी उनमें हेरफेर न होने पावे एतदर्थ भी कुछ ग्रथों के निर्माण की आवश्यकता हुई फलतः पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ और घनपाठ आदि पुस्तकों के प्रणयन की आवश्यकता हुई।

पादपाठ—इसे ऋग्वेद संहिता का पदच्छेदन कहना चाहिए। इसमें संहिता का प्रत्येक शब्द पृथक् पृर्थक् अपने स्वतंत्ररूप में उल्लिखित है। यदि प्रति शब्द के स्थान एक एक अङ्क मान लिया जाय तो लेख का क्रम— १, २, ३, ४, ऐसा होगा।

क्रमपाठ—यह बहुत ही प्राचीन पुस्तक है। इसमें पदपाठ के प्रत्येक शब्द को दो बार लिखने की परिपाटी है जो अङ्क द्वारा दिखाई जा रही है—१, २, २, ३, ३, ४, ४, ५, ५, आदि।

जटापाठ—इसमें क्रम के पाठ के प्रत्येक क्रम को तीन बार लिखने तथा दूसरे बार उलट कर रखने की रीति ग्रहण की गई है। १,२,२,१,१,२,२,३,३,२,२,३,३, आदि।

घनपाठ—यह जटापाठ के प्रथम दो क्रमों को रखने के अलावे तीन शब्दों को एक साथ लिखने और बीचवाले को उलट देने की कठिन विधि का व्यवहार किया गया है। जैसे—१, २, २, १, १, २, ३, ३, २, १, १, २, ३, २, ३, ३, २, २, ३, ४, ४, ३, २, २, ३ ४ इत्यादि।

ऊपर वताई हुई बातों के अलावे कुछ और ऐसी बातें दी जाती हैं जिनके द्वारा वेद मंत्रों में कोई भी परिवर्तन नहीं हो पाया है यह बात प्रामाणित होगी :—

१—सायण के ऋग्वेद भाष्य भूमिका में महर्षि जैमिनी के सूत्रों द्वारा यह बताया गया है कि मंत्र को जरा भी इधर उधर नहीं कर सकते हैं। उदाहरणार्थं 'अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुद्' (ऋग्वेद ८।४४।१६) यहां 'अग्निर्मूर्द्धा' के स्थान पर अर्थ में कोई भी परिवर्तन न रहते हुए भी 'मूर्द्धाग्नि' ऐसा नहीं कर सकते हैं।

२—मंत्र और ब्राह्मण स्वरूप वेदों में जरा भी परिवर्तन कर देने से उनकी अपौरुषेयता नष्ट हो जाएगी। साम्प्रादायिकों का विश्वास है कि वेद अपौरुषेय है। इस बात को सायणाचार्य ने ऋग्वेद भाष्य भूमिका में सविस्तार और साथ ही सप्रमाण सिद्ध किया है।

३—शिक्षा के अनुसार वेदों के वाक्य में क्या स्वरों में जरा भी इधर-उधर होने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है।[1]

उपरोक्त प्रमाणों के द्वारा यह सिद्ध होता है कि मंत्र और ब्राह्मणों भागों के तैयार हो जाने के बाद से लेकर अब तक वेद में कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ है वे जैसे के तैसे ही हैं। ऋग्वेद के दशवें मण्डल की रचना पीछे की है ऐसा कुछ विद्वानों की राय है। इस संबंध में उनका कहना है कि (१) प्राचीन कथाओं के स्थान पर कितनी ही नवीन कथाओं का समावेश; (२) श्रद्धा मन्यु आदि मनः कल्पित देवताओं का समावेश; (३) विश्वेदेवा आदि का वर्णन; (४) विश्वोत्पत्ति विषयक स्तोत्र और दार्शनिक विषयों का स्थान पाया जाना; (५) शब्दों के प्राचीन रूपों का क्रमशः लोप तथा पश्चात् के प्रयोगों का पाया जाना; (६) पीछे के संस्कृत में पाए जाने वाले छंदों का प्रयोग का देख पड़ना; इत्यादि बातों को देखकर मालूम होता है कि ऋग्वेद का दशवां मण्डल पीछे का जोड़ा हुआ है।

चाहे जो हो वेद की रचना समाप्त हो जाने के बाद उनमें कोई परिवर्तन और परिवर्द्धन नहीं हुआ। जिनमें कुछ परिवर्तन हुआ है वे वेद न रहकर लौकिक संस्कृत साहित्य की चीज हो गए हैं उनमें वेद इस शब्द का व्यवहार ही नहीं होता जैसे साख्यक्वतत्वकौमुदी के आरंभ में वाचस्पति मिश्र द्वारा 'अजामेकां' इस मंत्र का बदल दिया जाना। अलमति विरत्तरेण श्री गुरुचरणारविन्देषु।

—————

[1] "मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा।" आदि (पा० शि० ५२)

MESSAGES RECEIVED ON THE OCCASION OF THE GOLDEN JUBILEE OF THE CENTRAL HINDU COLLEGE.

His Highness Maharaja Scindia of Gwalior, Chancellor of the Banaras Hindu University :

"Many thanks for your letter, dated the 5th November, 1952 which I received just today at Delhi. Had I received the invitation a little earlier, it would indeed have given me great pleasure to participate in the Golden Jubilee celebrations of the Central Hindu College. I am very sorry that it will not be possible for me now to run down to Banaras to attend this function. I hope you will kindly appreciate my difficulties.

I wish the function all success and the institution a still more glorious future".

RAJ BHAVAN,
गिंडीं
ता० २ नवम्बर १९५२.

श्री आचार्य जी,

अपनी पुरानी पाठशाला और विद्यालय की स्वर्ण-जयन्ती के भावी उत्सव का समाचार पाकर हृदय को बड़ा संतोष और आनन्द हुआ। आपने मुझे इस अवसर पर स्मरण किया और उसमे सम्मिलित होने के लिये आमंत्रित किया, अेतदर्थ मैं हृदय से अनुग्रहीत हूँ। मुझे इस बात का खेद है कि यहाँ पर उन्हीं दिनों में बहुत-से अन्य आवश्यक राजकीय कार्यों में मुझे लगा रहना होगा। इस कारण मै न आ सकूंगा। क्षमा कीजियेगा। यदि आ सकता तो मुझे विशेष हर्ष होता और मुझे इसका विशेष दुख है—और रहेगा—कि मै इसमे योगदान न कर सका। मैं यही आशा करता हूँ कि यह शुभ कार्य सुख और सफलता के साथ संपन्न होगा।

इस पाठशाला और विद्यालय का मेरे कुल से कितना संबंध रहा है, यह सभी मित्रों को विदित है। साथ ही मैं स्वयं इसके प्रति कितना कृतज्ञ हूँ, उसे शब्दों मे व्यक्त करना मेरे लिये संभव नहीं है। आज मैं अपने कितने ही गुरुजनों और साथियों का सस्नेह और सादर स्मरण करता हूँ, और यही इच्छा रखता हूँ कि फिर वे दिन मेरे लिये आ सकते, जब प्रेम के वातावरण मे मैं जीवन व्यतीत करता था, और शरीर और मस्तिष्क को सुदृढ़ और सुसंस्कृत करने के प्रयत्न मं उत्साहित किया जाता था। श्रीमती एनी बीसेंट, डाक्टर रिचर्डसन, मिस्टर अरंडेल अैसे तथाकथित विदेशियों ने आकर हमारे धर्म और हमारी परंपरा को जागृत करने में कितना प्रयत्न और परिश्रम किया वह मैं जानता हूँ। हम उनेक विद्यार्थी सदा उनेक ऋणी रहेंगे। पर

साथ ही हमारे देश और समाज को भी उनके उपकार को मानना चाहिये। जो हमारे ही देशवासी गुरुजनों ने उनका साथ दिया, वे भी हमारी कृतज्ञता के पात्र हैं। उनमें से अबतो मेरे पिता के अतिरिक्त संभवतः श्री ज्ञानेन्द्रनाथ वसु ही जीवित हैं। जब स्मरण करता हूँ कि इन लोगों ने कितनी प्रतिकूल परिस्थिति में काम किया और किस तरह दिन-रात इस काम में वे लगे रहे, तो मैं स्तंभित हो जाता हूँ। आज के लोग उनके कार्य को संभवतः पर्याप्त महत्व न दें पर उन्होंने ही हमारे सच्चे स्वराज्य का शिलान्यास किया था, और हमें जागृत कर और पुराने आदर्श की तरफ अर्कषित कर, अपने पूर्व पुरुषों में गर्व करना सिखलाया तथा भावी भारत के निर्माण के लिये स्फूर्ति और साहस प्रदान किया।

सेंट्रल हिन्दू स्कूल और कालेज की स्थापना बड़े कठिन समय हुई थी। उसके आदर्श बड़े उच्च थे। सामाजिक सुधार, राजनीतिक सुधार और धार्मिक सुधार सभी की तरफ उसकी प्रवृत्ति थी और अदृष्ट रूप से उसका प्रभाव था कि हम विद्यार्थियों के ऊपर एक विशेष प्रकार की छाप पड़ती थी जिससे कि संसार में उनके व्यवहार से यह जाना जा सकता था कि वे यहाँ के पढ़े हुये हैं। मैं जब उन दिनों का विचार करता हूँ तो एक बात विशेष रूप से स्मरण आती है कि हमको यहाँ आचार और प्रचार—दोनों ही प्रकार से—शिक्षा दी जाती थी कि हम दूसरों की सहायता करने के लिए सदा तत्पर रहें, और समुचित विनय के साथ अपना आत्म-सम्मान स्थापित रखें, और पूर्ण रूप से आत्मावलंबन का सद्भाव अपने में लावें। इस सब आध्यात्मिक दीक्षा के साथ साथ अपने शरीर को बलवान रखने के लिये, अपनी समुचित रुप से रक्षा कर सकने का सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये, हमें पूर्विय और पाश्चात्य दोनो ही प्रकार के व्यायाम की आवश्यकता और उपयोगिता सक्रिय रूप में बतलायी जाती थी। शिक्षक और विद्यार्थी का परस्पर स्नेहपूर्ण संपर्क भी रखा जाता था और इसके द्वारा जो एक दूसरे के प्रति विश्वास उत्पन्न होता था, उसमें सब का ही लाभ लगातार होता था। मैं यही आशा कर सकता हूँ कि जिन उद्देश्यों से आज ५० वर्ष से अधिक हुये, यह संस्था स्थापित की गयी थी, उनकी पूर्ति यहाँ के विद्यार्थीगण अपने जीवन के प्रकार और अपने व्यवहार की शैली में करते रहेंगे। मैं जानता हूँ कि उस समय की और आज की स्थिति में बहुत अंतर हो गया है। काल की गति में यह अनिवार्य था, तथापि मेरी यही आकांक्षा और अभिलाष है कि जिन महान व्यक्तियों ने इस विद्यालय के रूप में अपने स्वप्न को कार्यान्वित किया, उन्हें हम सदा स्मरण रखेंगे और उनेक बतलाये हुये मार्ग पर चलते रहेंगे। स्वतंत्र भारत में उन पुरानी भावनाओं की उतनी ही आवश्यकता है यदि हमें अपनी स्वतंत्रता को स्थायी और दृढ़ बनानी है, जितनी की उस समय थी, जब यह विद्यालय स्थापित किया गया था और चारों तरफ फैले हुये अंधकार में यह आशा और जीवन देनेवाली ज्योति की मूर्ति में होकर हठात् हमारे सामने आया था।

श्री प्रकाश

Please accept my heartfelt felicitations and good wishes on the occasion of Golden Jubilee.

GOVERNOR,
Orissa.

RAJ BHAVAN,
Simla,
November 10, 1952.

Dear Dr. Tripathi,

I write to thank you for your invitation to me to attend the Golden Jubilee Celebrations of the Central Hindu College, Banaras. I regret my inability to attend, but send my very best wishes for the success of the celebrations. May the college grow from strength to strength.

Yours sincerely,
C. L. TRIVEDI.

RAJ BHAVAN,
Patna.
November 11, 1952.

Dear Friend,

Your kind invitation. I am glad the Central Hindu College is celebrating its Golden Jubilee. It is one of those institutions which was the pioneer in the matter of a new type of education with Indian culture as the basis.

I wish the celebrations a grand success.

Yours sincerely,
R. R. DIWAKAR.

RAJ BHAVAN,
Nagpur.
12th November, 1952.

Dear Dr. Tripathi,

I am very glad to learn that the Central Hindu College, Banaras, is celebrating its Golden Jubilee on the 15th November, 1952. It is in the fitness of things that Dr. Rajendra Prasad, President of the Republic of India, is associated with the celebrations. Institutions like your College have only a beginning and no end. I am sure the institution will continue to serve the country in the educational sphere in a greater and fuller measure.

Yours sincerely,
B. PATTABHI SITARAMAYYA.

Your letter of 6th November reached only today. Impossible attend celebrations, but I send my best wishes for occasion inspired by our President's presence to revive enthusiasm and lend fresh lustre of vision

of all those who believe or work for the ideals high inspired Malaviyajee and Mrs. Besant. The nation has won freedom but needs more and yet more education to bring light to our masses.

GOVERNOR OF BOMBAY.

Chief Minister of Madras.

FORT ST. GEORGE,
Madras.
November 10, 1952.

On the occasion of the Golden Jubilee of the Central Hindu College, let me also join in the felicitations. Those like me who were old enough to understand and hope, even in those days, can fully realise the joy of this occasion after fifty years.

C. RAJAGOPALACHARI.

Shri Morarji Desai, Chief Minister, Bombay:

"I send my best wishes to the Central Hindu College, Banaras on the occasion of the celebration of its Golden Jubilee. May it grow from strength to strength and may it strive to impart education in accordance with the present needs of our country."

MESSAGES WERE ALSO RECEIVED FROM THE FOLLOWING :—

Sri Patanjali Shastri, Chief Justice of India ; Governor of West Bengal ; H.H. Maharaja Tukojirao Holkar of Indore; H.H. Maharajadhiraj of Patiala; M. Abul Kalam Azad ; Rajkumari Amrit Kaur ; Sardar Swaran Singh ; Sri C. C. Biswas ; Sri G. V. Mavalanker ; Sri A. G. Kher ; S. Gurumukh Nihal Singh ; Sri B. Malik ; Sri Kamala Pati Tripathi ; Sri C. B. Gupta ; Sri Ali Zaheer ; Sri Gridhari Lal ; Sri Rameshwar Agnibhoj ; Sri Badri Nath Varma ; Dr. S. S. Bhatnagar ; Sir C. V. Raman ; Dr. M. N. Saha ; Dr. K. S. Krishnan ; Prof. N. K. Sidhant ; Dr. P. Parija ; Sri S. N. Sen ; Dr. D. R. Bhattacharya ; Dr. R. P. Tripathi ; Sri Acharya Jugul Kishore ; Prof. P. N. Banerjee ; Prof. L. R. Sivasubramanian ; Dr. N. K. Sethi ; Prof. Sri Ranjan ; Sri S. D. Pande ; Rai Bahadur G. M. Modi ; Sri C. L. Goswami ; Sri C. V. Rangaswami Aiyangar ; Dr. U. C. Nag ; Dr. R. C. Mazumdar ; Dr. N. N. Godbole ; Sri P. S. Verma ; Sri R. S. Inamdar ; Sri M. B. Rane ; Dr. B. N. Banerjee ; Dr. D. A. Kulkarni ; Sri A. Adhikari ; Sri Jnanendra Nath Basu ; Sri B. G. Khaparde ; Sri Trilokekar ; Sri J. S. Taraporewala ; Sri K. P. Bhargava ; Sri P. Dutt ; Prof. Nixon ; Srimati Rani Mukerjee ; Miss Lilavati Lalbhai ; Rukmini Devi Arundale ; Sri G. P. Pande.

———